कौतुक के पर्वत का सैलानी

लुडविग विट्गेन्स्टाइन की दुनिया

प्रसन्न कुमार चौधरी

1. व्यक्ति और कृति

संसार और जीवन एक हैं । मैं ही अपना संसार हूँ ।

लुडविग विट्गेन्स्टाइन ('ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलोसॉफ़िकस', 5.621, 5.63) ।

निश्चय ही यह अब तक प्रकाशित दार्शनिक कृतियों में सबसे पहेलीनुमा रचनाओं में से है : तर्कशास्त्रियों के लिए कुछ ज्यादा ही रहस्यात्मक, रहस्यवादियों के लिए कुछ ज्यादा ही तकनीकी, दार्शनिकों के लिए कुछ ज्यादा ही काव्यात्मक, तो कवियों के लिए कुछ ज्यादा ही दार्शनिक । यह ऐसी रचना है जो पाठकों को शायद ही कोई अतिरिक्त गुंजाइश देती है, और लगता है, इसे जानबूझ कर इस तरह रचा गया है कि इसे समझना वश के बाहर हो ।

रे मोंक ('हाउ टू रीड विट्गेन्स्टाइन') ।

यह जून 1929 के एक दिन का वाक़या है । कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ट्रिनिटी कॉलेज के एक कक्ष में तीन लोग गंभीर मुद्रा में बैठे थे - सामने मेज पर एक शोध-प्रबन्ध रखा था । अवसर था इसी शोध-प्रबन्ध पर फैलोशिप के लिए मौखिक परीक्षा का - परीक्षार्थी थे **लुडविग विट्गेन्स्टाइन** (1889-1951) और परीक्षक थे जाने-माने दार्शनिक **बर्ट्रेंड रसेल** (1872-1970) और **जी ई मूर** (1873-1958) । विट्गेन्स्टाइन तब तक खुद एक प्रतिभाशाली दार्शनिक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे । शोध-प्रबन्ध भी क्या था ? लुडविग की 1922 में प्रकाशित पुस्तक '**ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलोसॉफ़िकस**' को शोध-प्रबन्ध के रूप में स्वीकार कर लिया गया था । दोनों परीक्षक विट्गेन्स्टाइन को इस किताब के प्रकाशन के काफी पहले से जानते थे और विभिन्न रूपों में किताब की रचना तथा प्रकाशन-प्रक्रिया से भी जुड़े रहे थे । किताब की

प्रस्तावना तो खुद रसेल ने ही लिखी थी । खैर, थोड़ी-बहुत टीका-टिप्पणी के बाद रसेल खामोश थे - मूर ने तो पहले से ही चुप्पी साध रखी थी । थोड़ी देर की खामोशी के बाद विट्गेन्स्टाइन उठे और अपने दोनों परीक्षकों की पीठ थपथपाते हुए उन्होंने मुस्कुरा कर कहा, **'चिन्तित होने की जरूरत नहीं है, मुझे पता है आप इसे कभी समझ नहीं पाएँगे'** ।

बहरहाल, बाद में इस शोध-प्रबन्ध के बारे में परीक्षक के रूप में अपनी रिपोर्ट में मूर ने लिखा : विट्गेन्स्टाइन का शोध-प्रबन्ध, मेरे निजी विचार में, एक असाधारण प्रतिभा की कृति है । खैर, जो भी हो, कैम्ब्रिज में दर्शनशास्त्र की डॉक्टरेट (पीएच डी) की डिग्री के लिए जो जरूरी मानक हैं, उन्हें तो यह निश्चय ही भली-भाँति पूरा करता है ।

इस प्रकार, जनवरी 1930 से विट्गेन्स्टाइन कैम्ब्रिज में बतौर अध्यापक पढ़ाने लगे और आगे सत्रह सालों तक (1947 तक) वहीं रहे (फैलोशिप की अवधि वैसे 1936 में ही समाप्त हो गई थी, लेकिन अध्यापक के रूप में उनकी सेवा का विस्तार हो गया था) । शुरुआत निजी तौर पर उनके लिए दुःखद रही - जनवरी 1930 में अपनी पहली कक्षा से ठीक एक दिन पहले उनके अंतरंग युवा मित्र **फ्रैंक रैमसे** (1903-1930) की मृत्यु हो गई । रैमसे ने ही **सी के ऑग्डेन** की देखरेख में 'ट्रैक्टेटस' का अँग्रेजी अनुवाद किया था ।

बहरहाल, कैम्ब्रिज में उनके पुनरागमन की पृष्ठभूमि कुछ इस प्रकार थी । 1911-13 के दौरान वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र रह चुके थे और इसी अवधि में बर्ट्रेंड रसेल के मार्गदर्शन में उनका परिचय **तार्किक विश्लेषण के दर्शनशास्त्र** से हुआ - रसेल इस दार्शनिक शाखा के अधिष्ठाताओं में से थे । 1922 में 'ट्रैक्टेटस' के प्रकाशन के बाद करीब-करीब सात-आठ वर्षों तक वे दर्शनशास्त्र की दुनिया से दूर ही रहे - अपनी तलाकशुदा बहन **मार्गरेट** (ग्रेट्ल, 1882-1958) के लिए वियेना में मकान बनवाया, 'जमीन से जुड़े रहने के लिए' ऑस्ट्रिया के एक गाँव **ओटरथल** में एक प्राथमिक पाठशाला के बच्चों को कुछ वर्षों तक पढ़ाया, और शिक्षक की नौकरी से पदत्याग के बाद 1926 की गर्मियों में वियेना के ही नजदीक **हटेलडोर्फ** के मठ में माली का काम किया । कैम्ब्रिज के उनके मित्र चाहते थे कि वे फिर कैम्ब्रिज लौट आयें और दर्शनशास्त्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करें - उनके मित्र जानते थे कि विरासत में मिला लगभग सारा धन वे दान कर चुके थे और अपने जीवनयापन के लिए भी उन्हें नियमित आय की जरूरत थी । वैसे तो वे एक प्रशिक्षित एरोनॉटिकल इंजीनियर थे और उनके नाम से एक पेटेंट भी था, लेकिन कैम्ब्रिज के अपने पिछले प्रवास के दौरान उन्होंने कोई डिग्री नहीं ली थी । आखिर फैलोशिप के लिए कोई शोध-प्रबन्ध तो प्रस्तुत करना था ! तय हुआ कि वे ट्रैक्टेटस को ही शोध-प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करें । ऊपर की घटना इसी के बाद की है ।

उनके जीवन-वृत्त की चर्चा हम आगे करेंगे । यहाँ अभी हम सिर्फ उनकी 'असाधारण प्रतिभा' और उनकी अत्यन्त दुरूह समझी जानेवाली (तब तक प्रकाशित एकमात्र कृति) 'ट्रैक्टेटस' के बारे में कुछ और चर्चा कर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे ।

उनके साथ मुलाकात के चन्द दिनों के अन्दर ही रसेल अपने इस युवा छात्र की मेधा का लोहा मान चुके थे । 1913 में अपने एक मित्र को उन्होंने लिखा, 'युवा पीढ़ी दरवाजे पर दस्तक दे रही है । मुझे उसके लिए जगह खाली करनी है ।'

उसी वर्ष सितम्बर में विट्गेन्स्टाइन कैम्ब्रिज के ही अपने मित्र **डेविड पिनसेंट** (1891-1918) के साथ नार्वे में करीब एक महीने बिता चुके थे - साल भर पहले दोनों आइसलैंड की यात्रा कर आये थे । दरअसल, विट्गेन्स्टाइन रसेल की छत्रछाया तथा कैम्ब्रिज से दूर अपने (नये विकसित हो रहे) विचारों पर एकान्त में मनन करना चाहते थे - उनके मन में 'ट्रैक्टेटस' के बीज अंकुरित हो चुके थे । नार्वे जाने का यह सिलसिला आगे भी जारी रहा ।

रसेल विट्गेन्स्टाइन को नार्वे जाने से विरत करना चाहते थे । इस बारे में उन दोनों के बीच बातचीत का ब्यौरा खुद रसेल ने इस प्रकार दिया है :

रसेल ने कहा, वहाँ अँधेरा होगा ; विट्गेन्स्टाइन का जवाब था, मुझे दिन की रोशनी से नफ़रत है । रसेल ने कहा, वहाँ तुम नितान्त अकेले होगे ; विट्गेन्स्टाइन का जवाब था, बुद्धिमान लोगों से बातें करते-करते मेरा मन पहले ही काफी दूषित हो चुका है । रसेल ने कहा, तुम पागल हो ; विट्गेन्स्टाइन का जवाब था, भगवान समझदारों से मेरी रक्षा करे ।

बहरहाल, बाद में रसेल ने लिखा कि **परम्परा में प्रतिभा की जिस रूप में कल्पना की गई है - धुनी, पारंगत, भावप्रवण और सब पर छा जाना - विट्गेन्स्टाइन उसके सबसे आदर्श उदाहरण हैं** ।

मूर भी विट्गेन्स्टाइन को पढ़ा चुके थे, और वे खुद जाने-माने दार्शनिक थे, फिर भी नार्वे प्रवास के दौरान विट्गेन्स्टाइन ने उन्हें ईस्टर की छुट्टियों में अपने पास बुलाया तो मूर ने आमंत्रण स्वीकार कर लिया । विट्गेन्स्टाइन के बारे में उनके मन में क्या छवि थी, इसका प्रमाण यह है कि नार्वे में वे उनके निजी सचिव की भाँति दर्शन-सम्बन्धी होनेवाली बातचीत के नोट्स लेते रहे - यह ट्रैक्टेटस की रचना की शुरुआत थी । बाद में मूर ने खुद स्वीकार किया कि 'दर्शनशास्त्र के बारे में वे (विट्गेन्स्टाइन) मुझसे कहीं ज्यादा सिद्धहस्त हैं - न केवल सिद्धहस्त हैं, बल्कि मेरी तुलना में काफी ज्यादा गहन-गंभीर भी ।'

1929 में कैम्ब्रिज की मौखिक परीक्षा में यही दोनों (रसेल और मूर) उनके परीक्षक थे ।

अगस्त 1914 में, प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ने के बाद, हर्निया के कारण अनिवार्य भर्ती से उन्हें छूट मिल गई थी, लेकिन विट्गेन्स्टाइन एक वॉलंटियर के रूप में ऑस्ट्रो-हंगेरियन सेना में शामिल हो युद्ध के मोर्चे पर आ गये । वे अपने साथ एक नोटबुक रखते और दर्शन-सम्बन्धी अपने विचारों को उसमें नोट करते रहते । इससे अलग उन्होंने एक निजी डायरी भी रखी थी जिसमें वे युद्ध के दौरान अपने निजी अनुभवों को तथा युद्ध की स्थितियों के बारे में अपने विचारों को समय-समय पर दर्ज करते रहते । साथी सैनिक उनकी डायरी नहीं पढ़ सकें, इसलिए वे कूट लिपि में लिखते - वर्णाक्षर के उल्टे क्रम में जिसका अभ्यास वे बचपन में ही कर चुके थे । बचपन का वही अभ्यास युद्ध-भूमि में काम आया । युद्ध में शामिल होने के पीछे उनका मुख्य उद्देश्य अपने मनोबल की परीक्षा लेना था ।

दर्शन-सम्बन्धी विचारोंवाले उनके नोटबुक ने ही युद्ध की समाप्ति (1918) के बाद 'ट्रैक्टेटस' का रूप लिया । लेकिन इसी समय एक दुर्घटना ने उनसे उनका अभिन्न मित्र छीन लिया । डेविड पिनसेंट ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान एक टेस्ट पॉयलट के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त किया था । मई 1918 में एक उड़ान दुर्घटना में वे मारे गये । संगीत में साझा दिलचस्पी ने पिनसेंट और विट्गेन्स्टाइन को एक डोर में बाँध रखा था - आइसलैंड और नार्वे के प्रवासों में वे विट्गेन्स्टाइन के अंतरंग सहयात्री थे । विट्गेन्स्टाइन ने 'ट्रैक्टेटस' को अपने इसी प्रिय मित्र की स्मृति में समर्पित किया ।

किताब को प्रकाशित कराने में उन्हें काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ा । अपने एक संभावित प्रकाशक को उन्होंने साफ कह दिया था कि इस किताब को कोई नहीं पढ़ेगा, समझनेवाले तो और भी कम होंगे ; इसीलिए किताब से आप कोई कमाई नहीं कर पाएँगे । इसी तरह, एक दूसरे प्रकाशक को भी उन्होंने पहले ही आगाह कर दिया था कि 'किताब पढ़ने से आपको कुछ हासिल नहीं होगा, आप इसे समझ नहीं पाएँगे । इसकी विषयवस्तु आपको अजीब लगेगी' ।

प्रकाशन की जद्दोज़हद का ब्यौरा देना यहाँ जरूरी नहीं । वे अपनी किताब में प्रकाशन को ध्यान में रख कर कोई सुधार या परिवर्तन करने को तैयार नहीं थे । एक बार जब रसेल ने उनसे शिकायती लहजे में कहा कि जो बात उन्हें सही लगती है, उसे **महज कह भर देने** के साथ-साथ उन्हें उस बात के पक्ष में दलील भी रखनी चाहिए, तो विट्गेन्स्टाइन का जवाब था कि दलील उस सही बात की सुन्दरता को नष्ट कर देती है और मुझे ऐसा महसूस होता है जैसे मैंने अपने कीचड़-सने हाथों से एक फूल को गंदा कर दिया है ।

एक थी **हरमिन** ('माइनिंग', 1874-1950) । हरमिन विट्गेन्स्टाइन । विट्गेन्स्टाइन परिवार की सबसे बड़ी संतान । अविवाहित । अपने सबसे छोटे भाई लुडविग को बेहद प्यार करती थी । **रश रीस** के

सम्पादकत्व में ऑक्सफोर्ड से प्रकाशित '**रीकलेक्शन्स ऑफ विट्गेन्स्टाइन**' (1984) में हरमिन का आत्मीय संस्मरण '**माई ब्रदर लुडविग**' इसका प्रमाण है ।

हाँ तो प्रकाशित होने के काफी पहले ही हरमिन 'ट्रैक्टेटस' पढ़ चुकी थी । 19 अक्टूबर, 1920 को उसने अपने भाई को लिखा, "मैं तुम्हारा निबन्ध दो बार पढ़ चुकी हूँ । .. मुझे तो अपने आप पर हँसी आ रही है, मुझे शुरू से पता था कि मुझे कुछ समझ में नहीं आएगा । फिर भी मैं अपने को रोक नहीं सकी ।"

इसी तरह जब अपनी दूसरी बहन ग्रेटल के लिए विट्गेन्स्टाइन ने वियेना में घर बनवाया तो हरमिन उसे देखने गयी । इस घर के वास्तुशिल्पी वैसे तो लुडविग के दोस्त **एंगेलमन** थे, लेकिन घर के निर्माण के दौरान अनेक मामलों, खासकर दरवाजों, खिड़कियों, हैंडिलों, आदि के मामलों में विट्गेन्स्टाइन ने वास्तुशिल्पी की भूमिका खुद अपने हाथों में ले ली थी । एक 'परफेक्शनिस्ट' के रूप में वे यह सुनिश्चित करना चाहते थे कि उनके द्वारा तैयार घर के ज्यामितीय-गणितीय डिजाइन का अक्षरशः पालन हो, कि घर में कोई सजावट या अलंकरण न हो और घर सादगी की आभा से दीप्त हो । उन्होंने एंगेलमन तथा कारीगरों की नाक में दम करने की हद तक जाकर इस भूमिका का कुछ ज्यादा ही निर्वाह किया था ।

घर का मुआयना करने के बाद हरमिन ने लिखा, 'यद्यपि मैंने घर की काफी सराहना की, लेकिन मैं यह जानती थी कि मैं खुद उस घर में न तो रहना चाहती थी और न ही रह सकती थी । सचमुच ऐसा लगता था जैसे वह घर मेरे जैसे मामूली लोगों के लिए नहीं, बल्कि देवताओं के रहने के लिए बनाया गया हो ।' (वैसे कुछ वास्तुशास्त्री उस घर के वास्तुशिल्प को भद्दा मानते थे ।) वियेना में यह घर अब बुल्गारियाई दूतावास की सम्पत्ति है और उसके सांस्कृतिक विभाग के अधीन है ।

और एक थे **जॉन मेनार्ड कीन्स** (1883-1946) । प्रसिद्ध अर्थशास्त्री । विट्गेन्स्टाइन के मित्र । जनवरी 1929 में जब विट्गेन्स्टाइन कैम्ब्रिज लौटे तो कीन्स ट्रेन में उनसे मिले । घर आकर उन्होंने अपनी पत्नी को खुशी-खुशी यह सूचना दी, 'ईश्वर का आगमन हुआ है । पाँच पन्द्रह की ट्रेन में मैं उनसे मिल कर आ रहा हूँ ।'[1]

कहने को और भी बहुत कुछ है । लेकिन विषय-प्रवेश के रूप में एक असाधारण व्यक्ति तथा उनकी असाधारण कृति की जो संक्षिप्त झांकी ऊपर मैंने प्रस्तुत की है, उसके बाद और कुछ कहने की फिलहाल जरूरत नहीं रह जाती ।

जिस व्यक्ति और जिस कृति को बड़े-बड़े दार्शनिक और विचारक समझने में असमर्थ थे, उस व्यक्ति और कृति को समझ लेने की धृष्टता मैं नहीं कर सकता । जो कुछ भी जानता हूँ, उसे 'बस तीन शब्दों में

कह जाने' का हूनर भी मुझमें नहीं है । इसलिए आगे जो कुछ कहा जाएगा उसे 'महज सुना-सुनाया गुल-गपाड़ा और शोर-शराबा' भी समझा जाए तो मुझे प्रसन्नता ही होगी ।[2]

2. अस्तित्व का अंतरंग मौन

जन्म से मृत्यु तक प्रत्येक व्यक्ति प्रकृति-प्रदत्त अफीम की अपनी खुराक लेकर जीता है - इस खुराक की निरन्तर भरपाई होती रहती है, उसका अनवरत् स्राव होता रहता है । बॉदेलेअर, 'द इनविटेशन टु द वोयेज' ।[3]

सिद्धान्तों की सीमाओं से बाधित हुए बिना, और भाषा की भ्रान्तियों से दूषित हुए बिना अगर हम दुनिया को देखने में समर्थ होते हैं तो, जैसा कि विट्गेन्स्टाइन ने एक बार कहा था, हम खुद को 'कौतुक के पर्वत पर सैर करते पाएँगे' ।[4]

दुनिया का संज्ञान भाषा में ही संपन्न होता है । भाषारूपी शीशे की दीवार जितनी स्वच्छ होगी, जितनी पारदर्शी होगी, दुनिया का चित्र, उसकी छवि उतनी ही स्पष्टता के साथ, उतने ही सही रूप में प्रदर्शित होगी । विभिन्न मानव समुदायों की ऐतिहासिक रूप से विकसित अपनी-अपनी भाषाएँ हैं और इन समुदायों की प्रत्येक पीढ़ी को भाषा का संसार विरासत में प्राप्त होता है । प्रत्येक भाषा की अपनी एक आन्तरिक संरचना होती है, अपना व्याकरण और अपना वाक्य-विन्यास होता है - भाषा की यह आन्तरिक संरचना दुनिया के संज्ञान को अपने ढंग से प्रभावित करती है और उसे विशिष्टता प्रदान करती है ।

बर्ट्रेंड रसेल को 1920-21 में करीब एक साल चीन में गुजारने का अवसर मिला था । इस दौरान वहाँ रहने तथा व्याख्यान देने के क्रम में उन्हें चीनी भाषा को भी थोड़ा-बहुत जानने-समझने का मौका मिला, और तब उन्हें यह जानकर काफी हैरानी हुई कि उनकी किताब 'प्रिंसिपिया मैथेमैटिका' की भाषा तो भारोपीय (इण्डो-यूरोपियन) भाषा थी - चीनी भाषा की आन्तरिक निर्मिति जिससे काफी भिन्न थी ।

बहरहाल, यहाँ हमारा इरादा भाषा-विमर्श में या फिर भाषा की तार्किक संरचना और दुनिया के संज्ञान के अन्तर्सम्बन्धों में जाने का नहीं है । मैं दूसरी ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा ।

हजारों वर्षों के अपने अस्तित्व के दौरान मानव समुदायों ने **अपने अस्तित्व के सम्बल के रूप में** अपने होने के न मालूम कितने अर्थ, कितनी परिभाषाएँ, कितनी सृष्टि-कथाएँ, कितने मिथक, कितनी कहानियाँ गढ़ रखी हैं । अनेको पूर्वाग्रह, पाखण्ड, कर्मकाण्ड, मत-विचारधारा, प्यार-घृणा, ईर्ष्या-द्वेष, आदि हमारे जीवन में रच-बस गये हैं । थोड़ी देर के लिए अपने अन्दर झाँक के देखिए, अपने आसपास के लोगों की

दिनचर्या को गौर से देखिए - बिना **वाल्टर बेंजामिन** (1892-1940) हुए आप आसानी से देख पाएँगे कि आपकी-हमारी दिनचर्या (सुबह उठने से लेकर रात सोने तक, और यहाँ तक कि सपने भी) और आपका-हमारा संवाद, हमारी भाषा इन अर्थों, परिभाषाओं, सृष्टि-कथाओं, मिथकों, कहानियों, पूर्वाग्रहों, पाखण्डों, आदि से किस कदर आक्रांत है । हमारा रोजमर्रे का जीवन बहुत हद तक इन्हीं अर्थों, परिभाषाओं, कर्मकाण्डों द्वारा संचालित होता है ।

हर कोई पीठ पर आटे या कोयले के बोरे, या फिर रोमन सैनिकों के साजो-सामान जितना भारी अपनी-अपनी विशाल कल्पनाओं का बोझ ढोये जा रहा था । .. सबसे विचित्र बात तो यह थी कि कोई भी यात्री अपनी गर्दन पर सवार और पीठ में पंजे गड़ाये इस जानवर से क्षुब्ध नहीं था : एक ने तो यहाँ तक कहा कि वह उसे अपना ही एक अंग मानता है । बॉदेलेअर, 'एवरी मैन हिज कीमेरा' ।[5]

भाषारूपी शीशे की यह दीवार इन अर्थों, परिभाषाओं, कथाओं आदि से इस कदर पुती हुई है कि बाहरी दुनिया का सही-सही चित्रण लगभग असंभव हो गया है । लगभग अपारदर्शी हो चुकी इस दीवार से गाहे-बगाहे जो छवि छनकर आती भी है, वह इन अर्थों और कथाओं आदि से गुजरते हुए अपना सच्चा रूप खो देती है और कभी लुभावना तो कभी डरावना मायावी रूप धर लेती है ।

विरासत में प्राप्त भाषा में सच का साक्षात्कार असंभव हो जाता है ।

सच के साक्षात्कार के लिए पहले इस दीवार को धो-पोछ कर साफ करना होगा । सारे अर्थ, सारी परिभाषाएँ, सारे मिथक, सारी कथाएँ, सारी विचारधाराएँ, सारे मत आदि मिटाने होंगे । लीजिए, अब यह दीवार धुल चुकी है - इस स्वच्छ, पारदर्शी दीवार के उस पार यह रही आपकी दुनिया, आपका निर्मल, निष्कलंक सच ।

यह भाषा का विघटन है - उसका अतीतोन्मुख कायान्तरण । आप एकबारगी वहीं जा पहुँचे जहाँ से एक जाति के रूप में और एक व्यक्ति के रूप में आपने अपनी यात्रा शुरू की थी । यह मानवजाति का जन्मकाल था ।

आरम्भ में अस्तित्व था - सारे अर्थों और परिभाषाओं से मुक्त अस्तित्व ! सामने संसार का अन्तहीन विस्तार था - सितारों का जगमगाता आकाश था, लेकिन न सप्तर्षि थे, न कोई नक्षत्र-मण्डल था और न ही प्राणियों की आकृतियों वाली राशियाँ थीं । सूर्य अभी बस दीप्तिमान आलोक-पुन्ज था, द्वादश आदित्य नहीं । प्राणियों से भरी-पूरी बीहड़ वनों की गुंजायमान दुनिया थी, लेकिन कोई नेमिषारण्य या चम्पक-वन नहीं था । क्षितिज को छूती अथाह जलराशि थी, लेकिन समुद्र को पी जानेवाले कोई अगस्त्य नहीं थे ।

सारे किस्सों से मुक्त, अनावृत्त अस्तित्व था और सामने था अन्-अर्थ का आश्चर्यलोक । अर्थों से मुक्त हम **स्वतंत्र** थे - अपने अस्तित्व की सारी संभावनाओं को साकार करने की हमारी स्वतंत्रता अभी विरासत

में प्राप्त अर्थों, परिभाषाओं, कर्मकाण्डों की जंजीरों में जकड़ी नहीं थी । हमारे सामने (जैसा कि **हेगेल** ने '**फेनोमेनोलॉजी ऑफ स्पिरिट**' में लिखा था) एक सृजनकर्ता के रूप में '**संभावनाओं की रात को उपलब्धियों के दिन**' में बदल डालने का पूरा अवसर मौजूद था ।

यह कितनी हास्यास्पद बात थी कि संसार के इस अनन्त विस्तार में एक अत्यन्त क्षुद्र हिस्से के एक क्षुद्र ग्रह के क्षुद्र प्राणी ने सारी सृष्टि को, उसकी एक-एक चीज को अपने मनमाने अर्थों और परिभाषाओं से मंडित कर दिया था - अन्-अर्थ के आश्चर्यलोक से च्युत अपने इन्हीं अर्थों का वह बन्दी होकर रह गया था !

चाँद चमक रहा था और वह सितारा भी जो इतने निष्ठाभाव से उसके साथ-साथ चलता है । मुझ पर अपार शान्ति तारी हो आई । लिटिल स्टार दैट आई सी, ड्रॉन बाइ द मून । पुराने शब्द उस ताज़गी के साथ मेरे होंठो पर थे, जिस ताज़गी से वे लिखे गये थे । वे विगत शताब्दियों से मुझे जोड़नेवाले सेतु थे, जब सितारे ठीक वैसे ही चमका करते थे, जैसे अब । और इस पुनर्जन्म और स्थायित्व ने मुझे शाश्वतता के एहसास से भर दिया । संसार मुझे उतना ताज़ा और नया लगा, जितना अपने जन्म के बाद के काल में रहा होगा, और यह पल अपने में पर्याप्त और सम्पूर्ण । मैं वहाँ थी और अपने पैरों के नीचे चाँदनी में नहाई टाईलों की छत देख रही थी, देख रही थी, अकारण देख रही थी, महज उन्हें देखने का सुख लेती । इस असंपृक्ति में एक बेध देनेवाला सम्मोहन था । सिमोन द बोवुआर, 'संध्या-वेला' ।[6]

बहरहाल, यह आश्चर्यलोक अधिक समय तक रहनेवाला नहीं था । दूर अर्थों और परिभाषाओं में स्पंदन साफ दिखने लगा था । किस्से कुलबुलाने लगे थे । अपने नये अर्जित अर्थों के साथ भाषा ने फिर से सांस लेना शुरू कर दिया था । **भाषा संसार का निष्क्रिय दर्पण बन कर अधिक दिनों तक नहीं रह सकती थी । भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति खुद अपना एक स्वायत्त संसार - अपनी फंतासी, अपना मिथकीय लोक - रचने की होती है ।**

एक तरफ था अन्-अर्थ का आश्चर्यलोक और दूसरी तरफ अर्थ का यथार्थ-लोक । अपने यथार्थ लोक में भी हम सब हमेशा दो दुनियाओं में निवास करनेवाले प्राणी हैं - एक हमारी रोजमर्रे की कामकाजी दुनिया है, और दूसरी हमारी अपनी-अपनी कल्पनाओं की दुनिया । इन दोनों दुनियाओं का संतुलन जब गड़बड़ा जाता है तो हम **हारुकी मुराकामी** के उपन्यास '**1Q84**' के पात्रों की तरह आकाश में दो चाँद देखने लगते हैं । मनोविश्लेषक उसे विभिन्न प्रकार की मनोव्याधि के रूप में चिह्नित करते हैं ।

हम में से जो उस (अन्-अर्थ के) आश्चर्यलोक को **देख** लेते हैं, उनमें से कई उस दृश्य के सम्मोहन में या तो वापस यथार्थ लोक में लौटना भूल जाते हैं या फिर लौटना ही नहीं चाहते । जल में उतरते हुए **वर्जीनिया वुल्फ** ने आखिर क्या **देख** लिया कि किनारे से किनारा करते हुए वह और गहरे जल में उतरती चली गई ! और जरा सोचिए, तीन दिन, तीन रात भूखे-प्यासे यम के दरवाजे पर यम की प्रतीक्षा करते **नचिकेता** को कौन सी दुनिया दिखी होगी ?

'बीच से हट जाता एक मध्यस्थ शोर

और स्पष्ट सुनाई देने लगता

उस पार से इधर आता हुआ   एक संगीत । ..

अपूर्ण को ही मान लिया सम्पूर्ण ।

पूर्णता के पीछे भागना - व्यर्थ है,

वह शून्य है,

उसे पाना

अपने को खो देना है

शून्यों के अपार गणित में ।'

कुँवर नारायण, 'वाजश्रवा के बहाने' ।[7]

बात जब इस पड़ाव तक आ ही गई है तब मुझे यहाँ **खतरे** का बोर्ड लगाना पड़ेगा । पाठकों को सावधान करते हुए मैं यह गुज़ारिश करूँगा कि जिन्हें इस तरह के दार्शनिक विमर्श का अभ्यास नहीं है, वे इन प्रश्नों में गहरे उतरने की कोशिश कृपया न करें । यह काफी जोख़िम भरी डगर है - बड़े-बड़े, हम सब के प्रिय, प्रेरणादायक विचारक, लेखक, गणितज्ञ, संगीतकार आदि यह सफर पूरा नहीं कर पाये - कोई स्किड्ज़ोफ्रेनिया के, कोई मानसिक विक्षिप्तता के चंगुल में जा फँसे, तो कुछ ने आत्महत्या कर ली । **तथापि ऐसे लोग भी हैं जिन्हें अन्-अर्थ, अपरिभाषित, अपूर्ण जीवन ही आनन्द देता है और वही आनन्दोत्सव उनकी सृजनात्मक स्वतंत्रता का अजस्र स्रोत साबित होता है ।**

यहाँ मुझे आक्षेप के कुछ स्वर सुनाई दे रहे हैं । दो स्वर तो काफी स्पष्ट हैं । एक आक्षेप तो यह है कि विट्गेन्स्टाइन और 'ट्रैक्टेटस' की चर्चा करते-करते मैं विषय से भटकता जा रहा हूँ और अपनी अनर्गल बातें रखता जा रहा हूँ । दूसरा आक्षेप मुझ पर विट्गेन्स्टाइन को येन-केन-प्रकारेण अस्तित्ववादी दर्शन के साथ जोड़ने की चाल चलने का है । उनके अनुसार, ऊपर का सारा प्रपंच मेरी उसी चाल का हिस्सा है ।

पहले आक्षेप के जवाब में मुझे बस यही कहना है कि व्यक्ति और किताब भी **हिराक्लितु** की नदी की तरह होते हैं । जिस तरह आप एक नदी में दो बार स्नान नहीं करते, उसी तरह आप किसी व्यक्ति और किताब को भी दो बार नहीं पढ़ते - दूसरी बार पढ़ते समय व्यक्ति वही व्यक्ति नहीं रहता जिसे आपने पहली बार पढ़ा था, किताब भी वही किताब नहीं होती । हिराक्लितु की आड़ में मैंने अपने अनर्गल गुल-गपाड़े के लिए थोड़ी जगह घेर ली । लेकिन अनर्गल गुल-गपाड़े भी कुछ **दिखाते** हैं । और दूसरे आक्षेप में **यह देख लिया गया है** । हालांकि इस पक्ष पर ज्यादा लिखा नहीं गया है, फिर भी मैं यह मानता हूँ कि विट्गेन्स्टाइन और 'ट्रैक्टेटस' का एक सिरा **आद्य-अस्तित्ववाद** से, **कीर्केगार्द** और **फेनोमेनोलॉजी** (दृश्यप्रपंचशास्त्र) से जुड़ता है । **एक लिहाज से विट्गेन्स्टाइन का दर्शन फेनोमेनोलॉजी और अस्तित्ववाद का एक तार्किक-भाषाई आयाम था ।**

'ट्रैक्टेटस' के प्रकाशन के सिलसिले में द हेग (द नीदरलैंड्स) में रसेल विट्गेन्स्टाइन से मिले थे, तभी रसेल को उनके 'रहस्यवादी' पक्ष का आभास हो गया था । इस मुलाकात के बाद उन्होंने अपने एक मित्र को बताया, 'मैंने पाया कि वे बिल्कुल रहस्यवादी हो गये हैं । वे कीर्केगार्द और **साइलेसियस** जैसे लोगों को पढ़ते हैं और मठवासी होने के बारे में भी काफी गंभीरता से सोचने लगे हैं ।' 'ट्रैक्टेटस' की प्रस्तावना में भी वे विट्गेन्स्टाइन के इस रहस्यवाद के बारे में काफी कुछ कहते हैं । जिस रहस्यवाद को लेकर तार्किक विश्लेषण के दार्शनिक रसेल चिन्तित दिखायी देते हैं, उस रहस्यवाद के कुछ सूत्र आद्य-अस्तित्ववाद से जुड़ते हैं ।

जिस समय विट्गेन्स्टाइन 'ट्रैक्टेटस' की रचना कर रहे थे, उसी समय जर्मनी में एक और दार्शनिक शाखा फल-फूल रही थी । यह शाखा 'फेनोमेनोलॉजी' के नाम से जानी जाती है और इसके प्रणेता थे **एडमंड हुसेर्ल** (1859-1938) । इस फेनोमेनोलॉजिकल आन्दोलन ने आगे चलकर अस्तित्ववादी दार्शनिक शाखा के विकास को गहरे रूप से प्रभावित किया - जिसके सबसे प्रख्यात प्रतिनिधि थे **ज्यां पॉल-सार्त्र** (1905-1980) और **सिमोन द बोवुआर** (1908-1986) । 1918 के बाद चार बार चेकोस्लोवाकिया के राष्ट्रपति रहे **तोमास मसारिक** (1850-1937) युवावस्था के दिनों से ही हुसेर्ल के मित्र थे और वियेना में दोनों ने दार्शनिक **फ्रैंज ब्रेंतानो** से शिक्षा ग्रहण की थी । चेक फेनोमेनोलॉजिस्ट **जान पतोच्का** (1907-1977) हुसेर्ल के शिष्य थे और बाद में उन्होंने प्राग में कइयों को फेनोमेनोलॉजी की शिक्षा दी - पतोच्का के शिष्यों में **वाक्लाव हावेल** (1936-2011) भी थे जो 1989 से 2003 के बीच (सोवियत संघ के पराभव के काल में) पहले चेकोस्लोवाकिया और फिर चेक गणराज्य के राष्ट्रपति बने ।

ये फेनोमेनोलॉजिस्ट **हेगेल** (1770-1831) की रचना '**फेनोमेनोलॉजी ऑफ स्पिरिट**' से प्रेरणा ग्रहण करते थे और डेनमार्क के दार्शनिक **सोरेन कीर्केगार्द** (1813-1855) तथा जर्मन दार्शनिक **फ्रेडरिख़ नीत्शे** (1844-1900) से भी काफी प्रभावित थे । आगे अस्तित्ववादियों की पूरी पीढ़ी को प्रभावित करने के कारण ये सभी दार्शनिक - कीर्केगार्द, नीत्शे, हुसेर्ल आदि - **आद्य-अस्तित्ववादी** कहलाते हैं । प्रख्यात फ्रांसीसी कवि **चार्ल्स बॉदेलेअर** (1821-1867) और रूसी उपन्यासकार **फ्योदोर दोस्तोएव्स्की** (1821-1881) भी अस्तित्ववादियों पर अपने गहरे प्रभाव के कारण आद्य-अस्तित्ववादियों में शुमार किये जाते हैं । सार्त्र ने बॉदेलेअर की जीवनी भी लिखी थी ।

हुसेर्ल भी **विचारधाराओं, सिद्धान्तों, और बौद्धिक व्याख्याओं की मध्यस्थता के बिना 'सीधे चीजों से मुखातिब होने', उन्हें देखने और उनका अनुभव करने पर जोर देते थे ।** उनकी नजर में, बाकी चीजों का महत्व है लेकिन उन्हें कोष्ठकों में रखना ही पर्याप्त है, दार्शनिकों को उन पर अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । सामने जो चीजें हैं, जो परिघटनाएँ हैं, उनका पर्यवेक्षण और अनुभव ही, उनका ठीक-ठीक वर्णन ही हमारा विषय होना चाहिए । चीजों-परिघटनाओं और हमारे बीच कुछ नहीं आना चाहिए - परम्परा या विरासत में प्राप्त कोई विचार, सिद्धान्त, बौद्धिक लाग-लपेट आदि कुछ भी नहीं । उनका नारा ही था 'सीधे चीजों की ओर' - दुनिया चीजों, परिघटनाओं से भरी पड़ी है और क्षण-क्षण हमारे सामने उपस्थित होती रहती हैं । उन्हें बस **देखिए** और जहाँ तक संभव हो उनका बारीकी से **वर्णन** कीजिए । (कहने-सुनने में यह आसान लग सकता है, लेकिन यह **देखना** और **वर्णन** करना काफी कठिन है ।) चीजें

वास्तविक हैं या नहीं, हम उनके बारे में निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं या नहीं, आदि - **प्लेटो** के समय से ही दार्शनिकों ने ऐसी पहेलियों पर अपना वक़्त ज़ाया किया है । सिद्धान्तों, महाआख्यानों, बौद्धिक व्याख्याओं में उलझ कर हम चीजों और परिघटनाओं से, खुद जीवन से काफी दूर चले गये - हमें फिर से उनसे सीधे जुड़ना है ।

अस्तित्ववादी इसी विचार को और आगे ले जाते हैं और इसे अस्तित्व के प्रश्न से जोड़ते हैं । परम्परा से थोपे गये, विरासत में प्राप्त अर्थों, परिभाषाओं, महाआख्यानों, सामाजिक रीति-रिवाजों में व्यक्ति का अस्तित्व इस कदर दबा-घुटा है कि उसे अपने अस्तित्व की संभावनाओं को साकार करने, अपना अर्थ खुद गढ़ने का अवसर या तो उपलब्ध नहीं है या फिर उसका अस्तित्व ही विकृत, कुण्ठित रूप ले चुका है ।

भरी सभा में बार-बार प्रश्न पूछ कर द्रौपदी ने भीष्म पितामह को वह कहने के लिए विवश कर दिया जिसने सारे अर्थों-धर्मों की महिमा ही सदा के लिए धूमिल कर दी :

बलवांश्च यथा धर्मे लोके पश्यति पूरुषः । स धर्मा धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः ।।

(संसार में बलवान मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचार के समय लोग उसी को धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान पुरुष के बताये धर्म से दब जाता है ।)[8]

सबसे पहले अस्तित्व है ; सामाजिक बंदिशें, विरासत में प्राप्त थोपे गये अर्थ अपने अस्तित्व की संभावनाओं को साकार करने की **हमारी स्वतंत्रता** का हरण करते हैं, हमें अपना अर्थ खुद गढ़ने और **अपना खुद का प्रामाणिक जीवन** जीने से हमें वंचित करते हैं । जो व्यक्ति इन बंदिशों से लड़ कर प्रामाणिक जीवन जीने की कोशिश करता है, वही अस्तित्ववादियों का नायक है । सार्त्र ने **ज्यां जेने** (1910-1986) की जीवनी लिखी थी । जेने चोर थे, आवारा, पुरुष-वेश्या थे जिन्होंने काफी समय जेल में बिताया था - बाद में उन्होंने कवि, उपन्यासकार और आत्म-कथा लेखक के रूप में ख्याति पाई । सार्त्र ने उनके चरित्र में बॉदेलेअर की एक काव्य-पंक्ति '**ऐ बुरे मेरी अच्छाई बन**' का साकार रूप देखा । उन्होंने अपनी उस महत्वपूर्ण रचना को नाम दिया '**सेंट जेने**' (1952) ।[9]

परम्परा से प्राप्त अर्थों, परिभाषाओं, महाआख्यानों आदि से मुक्त होकर सीधे चीजों से मुख़ातिब होना और उन्हें जानने की कोशिश करना - इस मामले में विट्गेन्स्टाइन के तार्किक विश्लेषण और फेनोमेनोलॉजी तथा अस्तित्ववाद के बीच समानता आसानी से देखी जा सकती है । बहरहाल, यह समानता यहीं समाप्त भी हो जाती है ।

एक ज्ञानानुशासन के रूप में विट्गेन्स्टाइन दर्शनशास्त्र का सीमांकन करते हुए लगभग समस्त दार्शनिक साहित्य को खारिज कर देते हैं । इसलिए नहीं कि उनका कोई महत्व नहीं है । महत्व हो सकता है, लेकिन वे दर्शनशास्त्र के विषय नहीं हो सकते और इसलिए **दर्शनशास्त्र के संदर्भ में निरर्थक हैं** ।

विट्गेन्स्टाइन भी सिद्धान्तों, विचारधाराओं आदि की मध्यस्थता के बिना सीधे चीजों से मुख़ातिब हैं - दर्शनशास्त्र का काम यह बताना है कि इन चीजों के बारे में हमारी प्रतिज्ञप्तियाँ **सही** हैं या **गलत** ।

दार्शनिकों की अधिकतर प्रतिज्ञप्तियों के निरर्थक होने का कारण भाषा के तर्क को समझने में उनकी विफलता है ।

तार्किक रूप से सुसंगत भाषा ही चीजों को सही-सही चित्रित कर सकती है । भाषा की समीक्षा के जरिये हम एक ऐसी तार्किक रूप से सुसंगत भाषा की रचना कर सकते हैं जो चीजों और संसार को सह-सही प्रतिबिम्बित कर सके ।

यथार्थता का साकल्य ही संसार है । (ट्रैक्टेटस, 2.063) .. चित्र यथार्थता का एक प्रतिरूप है । (वही, 2.12) .. तार्किक चित्र संसार का चित्रण कर सकते हैं । (वही, 2.19)

विचार तथ्यों का तार्किक चित्र होता है । (वही, 3)

दर्शन-सम्बन्धी रचनाओं में पाई जानेवाली अधिकतर प्रतिज्ञप्तियाँ और जिज्ञासाएँ असत्य न होकर निरर्थक होती हैं । इसलिए हम इस प्रकार की जिज्ञासाओं का कोई समाधान नहीं दे सकते, अपितु केवल यही बता सकते हैं कि वे निरर्थक हैं । दार्शनिकों की अधिकतर प्रतिज्ञप्तियों और जिज्ञासाओं की उत्पत्ति का कारण उनके द्वारा भाषा के तर्क को समझने की विफलता है । (4.003) ..

समस्त दर्शन 'भाषा की समीक्षा' है । (4.0031) ..

दर्शनशास्त्र का उद्देश्य विचारों की तार्किक स्पष्टता ही है । दर्शनशास्त्र सक्रियता का नाम है, किन्हीं सिद्धान्तों की पोथी का नहीं । दार्शनिक कृति का मौलिक कार्य है व्याख्या करना । दर्शनशास्त्र का कार्य दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों का निर्माण न होकर प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण हुआ करता है । दर्शनशास्त्र के बिना विचार मानो धुँधले और अस्पष्ट होते हैं : दर्शनशास्त्र का उद्देश्य विचारों का स्पष्टीकरण एवं उनका सुदृढ़ सीमांकन है । (4.112) ..

दर्शनशास्त्र को, विचार का जो विषय हो सकता है उस की सीमा निर्धारित करनी चाहिए, और ऐसा करते हुए उसे इस बात की भी मर्यादा निर्धारित करनी चाहिए कि क्या विचार का विषय नहीं हो सकता । (4.114) ..

इस प्रकार, **गोट्टलिब फ्रेगे** और बर्ट्रेंड रसेल के तर्कों में निहित विसंगतियों को दिखाते हुए और उनका समाधान करते हुए विट्गेन्स्टाइन एक **सुसंगत तार्किक-गणितीय भाषा** की रचना करते हैं और यह दावा करते हैं कि उन्हें समस्त महत्वपूर्ण विषयों और समस्याओं का निदान मिल गया है (प्राक्कथन) । भाषा की गलत समझ ही इन समस्याओं की उत्पत्ति का कारण थी और वह गलत समझ दुरुस्त कर ली गई थी ।

भाषा की लिपी-पुती दीवार को स्थानापन्न कर एक स्वच्छ दीवार खड़ी कर दी गई - संसार यहाँ से साफ-साफ, सही-सही दिख रहा है ।

एक सुसंगत तार्किक-गणितीय भाषा की मजबूत सीढ़ी बना ली गई है । अब इस पर चढ़ा जा सकता है और देखा जा सकता है कि आगे ऊपर क्या है - ऊपर चढ़ने के लिए ही तो सीढ़ी की मरम्मत की गई थी । लीजिए **अब मैं ऊपर आ गया हूँ और मैंने सीढ़ी गिरा दी है - अब जो दृश्य मेरे सामने है, वह अनिर्वचनीय है । यहाँ मौन ही श्रेयस्कर है !** (6.54, 7)

इस पर 'प्रस्तावना' में रसेल अपनी प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार प्रकट करते हैं, '.. विट्गेन्स्टाइन ने सम्पूर्ण नीतिशास्त्र को अनिर्वचनीय रहस्यमय क्षेत्र में रखा है । फिर भी वे अपनी नैतिक मान्यताओं को समझाने में समर्थ रहे हैं । उनका बचाव यह हो सकता है कि जिसे वे रहस्यमय कहते हैं, उस विषय को प्रदर्शित किया जा सकता है, यद्यपि व्यक्त नहीं किया जा सकता । हो सकता है उनका यह बचाव पर्याप्त हो, किन्तु मैं मानता हूँ कि **इससे मुझे एक प्रकार की बौद्धिक बेचैनी होती रहती है** ।' जिस बात से रसेल को बौद्धिक बेचैनी होती थी, वही बात **डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन** को सुकून देती थी ।[10]

संसार की रहस्यमयता के बारे में विट्गेन्स्टाइन ने सूत्र रूप में ट्रैक्टेटस में अपना पक्ष रखा है ।

संसार में वस्तुएँ **किस प्रकार** से हैं, यह कोई रहस्य की बात नहीं है, बल्कि **यही** एक रहस्य है **कि** संसार का अस्तित्व है । (6.44)

संसार पर विहंगम दृष्टिपात का अर्थ है उसे एक सीमित-समग्र के रूप में देखना ।

संसार को सीमित-समग्र समझना - यही तो रहस्य है । (6.45)

संसार की चीजें तो जानी जा सकती हैं, लेकिन खुद संसार का रहस्य बरकरार रहता है । किसी चीज को जानने के लिए उस चीज को बाहर से देखना, उसके उद्भव, विकास तथा पराभव का पर्यवेक्षण-अध्ययन जरूरी होता है । इसके बिना उस चीज का अर्थ आप नहीं जान सकते । हम संसार के भीतर रहते हैं और हमारे लिए संसार को 'बाहर' से देखना, उसके जन्म, विकास तथा संहार का पर्यवेक्षण-अध्ययन संभव नहीं । इसीलिए संसार का अर्थ हमारे लिए रहस्य का विषय बना रहता है ।

बहरहाल, यह रहस्य ही अनेक कथाओं, मिथकों का अवसर भी प्रदान करता है ।

संसार की चीजों की नित नयी जानकारी हमारे पहले के ज्ञान की सीमा भी निर्धारित करती है और उसे उसकी सापेक्षता प्रदान करती है ।

मानव जीवन के साथ भी यही बात है । जीवन का अर्थ तो जीवन के गुजर जाने के बाद ही जाना जा सकता है । मानवजाति का अर्थ भी मानवजाति की विलुप्ति के बाद ही स्पष्ट होगा - तब तक हम अपने को विभिन्न रूपों में परिभाषित करने, अपने होने के अनेक किस्से गढ़ने, और इन परिभाषाओं तथा किस्सों को लेकर आपस में ही लड़ने और अक्सर इस लड़ाई में आत्मसंहार के लिए 'स्वतंत्र' हैं ।

विट्गेन्स्टाइन के गृहनगर वियेना में वैज्ञानिक सोच तथा तार्किक प्रत्यक्षवाद में विश्वास रखनेवाले दार्शनिकों की एक टोली थी जिसके अगुवा वियेना विश्वविद्यालय के **प्रोफेसर मोरित्ज शिलक** थे । 1926 में उन्होंने एक अन्य जर्मन दार्शनिक **रुडोल्फ कार्नेप** (1891-1970) को भी अपने विभाग में बुला लिया था । शिलक की अगुवाई में ही एक अनौपचारिक ग्रुप था जो समय-समय पर दार्शनिक विषयों पर चर्चा के लिए गोष्ठियाँ आयोजित करता था । यह ग्रुप **वियेना सर्कल** के नाम से जाना जाता था और शिलक के

अलावा इसके प्रमुख सदस्य थे - कार्नेप, **हैंस हान**, **फ्रेडरिख़ वाइसमैन**, **ओटो न्यूरथ** और **हर्बर्ट फाइगल** । हान के ही एक शिष्य **कुर्त गोडेल** भी इसमें कभी-कभी शिरकत कर लिया करते थे । (नाजियों के उत्थान के बाद 1935 में अन्य अनेक जर्मन बुद्धिजीवियों की तरह कार्नेप भी अमेरिका में जा बसे । 22 जून, 1936 को श्लिक की वियेना में हत्या कर दी गई ।) बहरहाल, यह समूह भी विट्गेन्स्टाइन की ही तरह भाषा की समस्या को, वाक्य-विन्यास को दर्शनशास्त्र की प्रमुख समस्या मानता था । जाहिर है, यह समूह 'ट्रैक्टेटस' से काफी प्रभावित था, और जब 1926 में विट्गेन्स्टाइन वियेना आये तो उनसे मिलने और इन विषयों पर चर्चा करने को ये बुद्धिजीवी काफी उत्सुक थे । इनमें से कुछ लोगों के साथ विट्गेन्स्टाइन मिले और उन लोगों के साथ 'ट्रैक्टेटस' पर चर्चा में भाग भी लिया । लेकिन कुछ समय बाद उन्हें यह महसूस हुआ कि ये लोग 'ट्रैक्टेटस' के पहले भाग से तो काफी उत्साहित थे, लेकिन दूसरे भाग के बारे में उनमें काफी भ्रान्तियाँ थीं । **उनके साथ बैठकों में कभी-कभी वे कुर्सी घुमा लेते और उन लोगों की ओर पीठ करके रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं का पाठ करने लगते । जो कहा नहीं जा सकता, उसे प्रदर्शित करने का यह उनका 'ट्रैक्टेटस' वाला तरीका था ।**[11]

प्रसंगवश, यहाँ कहते चले कि जो अनिर्वचनीय है, उसे साहित्य में अभिव्यक्त करना लगभग सभी महान साहित्यकारों के लिए चुनौती रही है और उनमें से अनेक रचनाकारों ने इस चुनौती को बखूबी निभाया भी है । यहाँ उसका कुछ उदाहरण देना भी संभव नहीं है ।

फ़िलोसॉफ़ी के लिए हिन्दी में हम **दो** शब्दों का प्रयोग करते हैं - एक **तत्त्वशास्त्र** (खासकर यूरोपीय संदर्भ में), और **दर्शन** (भारतीय संदर्भ में) । **'ट्रैक्टेटस' में विट्गेन्स्टाइन 'तत्त्वशास्त्र' की सीढ़ी से 'दर्शन' तक की यात्रा पूरी करते हैं** । उनकी फ़िलोसॉफ़ी के लिए दोनों शब्दों का प्रयोग सार्थक है । वे तर्क की सीढ़ी के जरिये नामों की दुनिया से मौन की दुनिया में दाख़िल होते हैं ।

प्रतिज्ञप्तियों में प्रयुक्त सरल संकेत नाम कहलाते हैं । (3.202) .. नाम का अभिप्राय है वस्तु । वस्तु नाम का अर्थ होती है । (3.203) .. परिभाषा द्वारा किसी नाम का और अधिक विश्लेषण नहीं किया जा सकता : नाम तो आद्य प्रतीक है । (3.26) .. आद्य प्रतीकों के अर्थ व्याख्याओं द्वारा समझाये जा सकते हैं । व्याख्याएँ ऐसी प्रतिज्ञप्तियाँ होती हैं जिनमें आद्य प्रतीक निहित होते हैं । अतः उन प्रतीकार्थों का ज्ञान होने के बाद ही उन प्रतिज्ञप्तियों को समझा जा सकता है । (3.263) .. केवल प्रतिज्ञप्तियाँ ही सार्थक होती हैं ; किसी प्रतिज्ञप्ति से सम्बद्ध होने पर ही नाम अर्थवान होता है । (3.3)

प्रसंगवश, एक सीढ़ी **सनतकुमार** के पास भी थी । इस सीढ़ी की विशेषता यह थी कि इसके अलग-अलग पायदानों पर विभिन्न शाखाओं के दार्शनिक अपना डेरा-डंडा डाल सकते थे । एक बार ऋषि .. ओह ! क्या मुश्किल है ! ऋषि शब्द उच्चारते या लिखते ही चार्टर्ड अकांउण्टेंट्स की याद आने लगती है ! खैर, एक बार ऋषि **नारद** सनतकुमार के पास पहुँचे । कहा, मुझे शिक्षा दीजिए । सनतकुमार ने कहा, पहले बताओ तुम क्या जानते हो ? तब ही मैं तुम्हें उनसे आगे की बात बताऊँगा । नारद ने वह सारी बातें बता दीं जो वे जानते थे - वे वेद-उपनिषदों के ज्ञाता थे, इतिहास-पुराण और न्याय के विद्वान थे, और ज्ञान की जितनी भी शाखाएँ हैं, उन सभी शाखाओं के निपुण विद्वान थे - धर्म के तत्व को जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष के पण्डितों में शिरोमणि, ऐक्य, संयोगनानात्व, और

समवाय के ज्ञान में विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसंपन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, प्रमाणों द्वारा एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचे हुए, पञ्चावयवयुक्त वाक्य के गुण-दोष को जाननेवाले, सांख्य और योग के विभागपूर्वक ज्ञाता, राजनीति के छः अंगों (संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव, और समाश्रय) के उपयोग के जानकार, युद्ध और संगीत की कला में कुशल, मननशील, महातेजस्वी आदि असंख्य सद्गुणों से सम्पन्न ।

सनतकुमार ने कहा, यह सब तो बस पहली सीढ़ी है - **नामों** की दुनिया है । नाम पर ध्यान (नामोपास्स्व) से नामों की दुनिया के तुम अधिकारी हो जाते हो । नारद ने कहा, नाम से बड़ा क्या है, मुझे बताइए । इसके बाद सनतकुमार की सीढ़ी शुरू होती है - नाम से बड़ा वाक्, वाक् से बड़ा मन, मन से बड़ा सङ्कल्प, सङ्कल्प से बड़ा चित, चित्त से बड़ा ध्यान, ध्यान से बड़ा विज्ञान, विज्ञान से बड़ा बल, बल से बड़ा अन्न, अन्न से बड़ा जल, जल से बड़ा तेज, तेज से बड़ा आकाश, आकाश से बड़ा स्मरण, स्मरण से बड़ी आशा, और आशा से बड़ा प्राण । प्राण में सभी लय हो जाते हैं । इस सीढ़ी के सबसे निचले पायदान पर प्रत्यक्षवादी अपनी जगह सुरक्षित कर ले सकते हैं और बीच की सीढ़ियों पर भाववादियों के विभिन्न शिविर अपना ठिकाना बना सकते हैं । बहरहाल, इस सीढ़ी के अन्तिम कई पायदान (बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, प्राण, आदि के पायदान) सनतकुमार ने भौतिकवादियों के लिए सुरक्षित कर दिया है । लेकिन ठहरिये । सीढ़ी का कुछ हिस्सा अभी बाकी है । जो यह सब जान लेता है, उसपर मनन करता है, वह अपनी वाणी में सीमाओं का अतिक्रमण कर जाता है । .. इसके बाद, संक्षेप में, कुछ सीढ़ियाँ इस प्रकार हैं - सत्य .. विज्ञान .. मनन .. श्रद्धा .. निष्ठा .. कर्म .. सुख .. अनन्त (.. भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ।।) .. अनन्त वह अवस्था है जहाँ दूसरा कुछ दिखाई नहीं देता, दूसरा कुछ सुनाई नहीं देता, और जानने को और कुछ नहीं रहता (यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ ..) ।[12] नाम से शुरू होनेवाली यह सीढ़ी अनन्त पर जाकर समाप्त होती है । यह तर्क से अध्यात्म तक की यात्रा है ।

इस कथा के बाद अब हम फिर विट्गेन्स्टाइन और फेनोमेनोलॉजी के बीच रिश्तों पर लौटते हैं । यद्यपि इन रिश्तों के बारे में ज्यादा विवरण उपलब्ध नहीं है, फिर भी विट्गेन्स्टाइन पर शोध करनेवाले कुछ लेखकों ने इन सम्बन्धों की छानबीन की है ।

हर्बर्ट स्पाइगलबर्ग (1982) के अनुसार विट्गेन्स्टाइन ने खुद एक बार कहा था कि 'आप मेरी रचना के बारे में यह कह सकते हैं कि यह फेनोमेनोलॉजी है ।' उनके जो नोटबुक्स प्रकाशित हुए हैं, उनके आधार पर **जे हिनतिक्का** (1997) का मानना है कि 1929 के बाद के नोटबुक्स में विट्गेन्स्टाइन कई बार फेनोमेनोलॉजी की चर्चा करते हैं और शुरुआती रूप में एक विशुद्ध फेनोमेनोलॉजिकल भाषा के निर्माण को अपने दार्शनिक कार्यभार के रूप में चिह्नित करते हैं । उनका प्रश्न है कि इस साक्ष्य के बावजूद आखिर क्यों अन्य लेखकों ने इसे नज़रअन्दाज़ कर दिया ? 'मैं विट्गेन्स्टाइन और हुसेर्ल को एक ही कोष्ठक में क्यों रखता हूँ ? इसका जवाब बिल्कुल सरल है - क्योंकि दोनों फेनोमेनोलॉजिस्ट्स हैं ।'[13]

बहरहाल, विट्गेन्स्टाइन और आद्य-अस्तित्ववाद के सम्बन्ध को बेहतर ढंग से समझने के लिए विट्गेन्स्टाइन के जीवन में झांकना जरूरी है ।

3. जीवन क्या जिया

जीवन के प्रवाह में ही किसी अभिव्यक्ति का अर्थ आकार लेता है । लुडविग विट्गेन्स्टाइन ।

व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ/ वही उसे अकस्मात् मिलता था रात में,/ पागल था दिन में/ सिर-फिरा विक्षिप्त मस्तिष्क । मुक्तिबोध, 'अँधेरे में' ।[14]

कार्ल विट्गेन्स्टाइन (1847-1913) ऑस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य के (**रोथशिल्ड्स** के बाद) दूसरे सबसे धनी पूँजीपति थे । जर्मनी में जन्मे यहूदी मूल के कार्ल का ऑस्ट्रिया-हंगरी के लौह-इस्पात उद्योग पर एकाधिकार था । दुनिया में सम्पत्ति तथा प्रभाव के मामले में उनकी तुलना जर्मनी में **क्रुप्स**, ऑस्ट्रिया-हंगरी में रोथशिल्ड्स और अमेरिका में **एंड्र्यु कारनेगी** के साथ की जाती थी । कारनेगी उनके मित्र भी थे । बीसवीं सदी के आरम्भ में कहा जाता था कि वियेना का स्टॉक एक्सचेंज तीन ही शक्तियों से ख़ौफ़ खाता था - ईश्वर से, शेयर व्यवसाय के अर्थशास्त्री **तौसिग** से, और कार्ल विट्गेन्स्टाइन से । वियेना में होनेवाले कला और संगीत से सम्बन्धित समारोहों के वे प्रायोजक भी हुआ करते थे और ऐसे कई समारोह खुद उनके बंगले पर ही होते थे ।[15]

26 अप्रैल, 1889 को जन्मे लुडविग विट्गेन्स्टाइन इसी परिवार की आठवीं संतान थे । कार्ल एक सफल और अत्यंत प्रभावशाली व्यवसायी तो थे ही, कड़क पिता भी थे । पूरा परिवार उनके कठोर अनुशासन में दबा-घुटा रहता । माँ **लियोपोल्डाइन कालमुस** कुछ कहने या दखल देने की हिम्मत नहीं जुटा पाती । वह अपनी संगीत और पियानो की दुनिया में विश्राम पाती थी ।

'बुरे प्रभाव' से बचाने के लिए चौदह वर्ष की उम्र तक बच्चों का स्कूल जाना तथा बाहरी दुनिया से ज्यादा घुलना-मिलना मना था । इस उम्र तक उनकी शिक्षा-दीक्षा भी घर पर ही होती थी । इस दमघोंटू वातावरण में, पिता की अपेक्षाओं पर खरा उतरने के निरन्तर दबाव में लुडविग के दो बड़े भाइयों, **जोहान्स** (हान्स, 1877-1902) और **रुडोल्फ** (रुडी, 1881-1904), ने आत्महत्या कर ली थी । प्रथम विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों में युद्ध के मोर्चे पर तैनात एक और भाई **कोनराड** (कुर्त, 1878-1918) ने भी उस समय आत्महत्या कर ली जब उनके मातहत सैनिकों ने उनका आदेश मानने से इन्कार कर दिया

। लुडविग के एक और भाई **पॉल विट्गेन्स्टाइन** (1887-1961) प्रतिभाशाली संगीतकार थे, लेकिन वे भी आगे चलकर घर से नाता तोड़कर न्यूयार्क में जा बसे । युद्ध के दौरान उन्हें अपना एक हाथ गंवाना पड़ा था । इस दुर्घटना के बावजूद उन्होंने अमेरिका में एक सफल पियानिस्ट तथा पियानो-शिक्षक के रूप में ख्याति अर्जित की । (अमेरिकी टीवी शो M*A*S*H, सीजन 8, एपिसोड 19, 'मोराल विक्टरी', पॉल विट्गेन्स्टाइन की जीवनी पर ही आधारित है ।) सबसे छोटी संतान होने और परिवार में होनेवाली इन दुःखद घटनाओं के कारण लुडविग पिता के कठोर अनुशासन से कुछ हद तक मुक्त रहे ।

बहरहाल, युवा होते लुडविग का पिता के साथ 'ईडिपल' संघर्ष जारी रहा - पिता, पिता के नाम और दौलत की छत्रछाया से बाहर निकलना, पिता की अपेक्षाओं से उलट राह चुनना, वियेना से दूरी बनाये रखना, पिता की मृत्यु (1913) के बाद विरासत में प्राप्त धन का लगभग पूरा-का-पूरा 'गुप्त दान' कर देना, आदि इसी संघर्ष की अभिव्यक्तियाँ थीं ।

विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए वे ऑस्ट्रिया छोड़ जर्मनी चले गये और वहाँ से फिर इंगलैंड । पिता चाहते थे कि वे बिजनेस की पढ़ाई करें, लेकिन उन्होंने इंजीनियरिंग की पढ़ाई चुनी । 1906 से 1908 के बीच बर्लिन के नजदीक एक प्रख्यात तकनीकी कॉलेज से इंजीनियरिंग की पढ़ाई की । उन दिनों हवाई जहाजों का निर्माण अपनी प्राथमिक अवस्था में था और इंजीनियरिंग की एक शाखा के रूप में वैमानिकी की पढ़ाई अभी शुरू ही हुई थी । बर्लिन के बाद एरोनॉटिकल इंजीनियरिंग की पढ़ाई के लिए उन्होंने मैनचेस्टर युनिवर्सिटी (इंगलैंड) में दाखिला लिया और 1908 से 1911 के बीच वहीं रहे । इसी दौरान 1910 में उन्होंने 'हवाई मशीनों' में व्यवहार में आनेवाले 'प्रोपेलर्स' में सुधार के लिए एक पेटेंट भी दाखिल किया और अगले साल (अगस्त 1911 में) उनका पेटेंट मंजूर कर लिया गया ।

मैनचेस्टर में वैमानिकी की पढ़ाई के दौरान ही उनकी दिलचस्पी गणित, और गणित की बुनियाद तर्कशास्त्र में हुई । आगे उनकी इच्छा गणित और तर्कशास्त्र की पढ़ाई की थी । पूछताछ करने पर लोगों ने बताया कि इस पढ़ाई के लिए सबसे अच्छे शिक्षक बर्ट्रेंड रसेल (1872-1970) हैं जो उस समय कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में अध्यापक थे । और इस तरह अक्टूबर 1911 में वे रसेल के पास आ पहुँचे । रसेल तब तक 'तार्किक परमाणुवाद' के प्रवर्तक के रूप में ख्याति अर्जित कर चुके थे । आगे **ए एन व्हाइटहेड** के साथ लिखी उनकी किताब 'प्रिंसिपिया मैथेमैटिका' के प्रकाशन (1916) ने तार्किक विश्लेषण के अग्रणी दार्शनिक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा को नई ऊँचाई प्रदान की । रसेल के साथ मुलाकात से ही विट्गेन्स्टाइन की जिन्दगी का एक नया अध्याय शुरू हुआ ।

बहरहाल, लुडविग के जीवन में जो अस्तित्वपरक तनाव था और जो उन्हें पारिवारिक विरासत के रूप में मिला था (उन्होंने अपनी किशोरावस्था में अपने दो भाइयों की आत्महत्या देखी थी और घर में जो

दमघोंटू माहौल था, उसका अनुभव किया था), वह कैम्ब्रिज आने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ रहा था । समय-समय पर आत्महत्या के विचार उन्हें भी घेर लेते और उससे वे सचेत रूप से जूझते । युद्ध के पहले कैम्ब्रिज के दिनों में रसेल ने उनके साथ बिताये समय की चर्चा करते हुए लिखा है :

"प्रत्येक मध्यरात्रि को वे मेरे पास आ धमकते और करीब तीन घण्टों तक तनावपूर्ण चुप्पी के साथ एक जंगली प्राणी की तरह मेरे कमरे में चहलकदमी करते रहते । एक बार मैंने उनसे कहा, 'तुम तर्कशास्त्र के बारे में सोच रहे हो या अपने पापों के बारे में?' 'दोनों के बारे में', उन्होंने जवाब दिया और अपनी चहलकदमी जारी रखी । मैं उन्हें यह नहीं कहना चाहता था कि यह सोने का समय है, क्योंकि संभवतः हम दोनों यह जानते थे कि मुझसे विदा लेने के बाद वे आत्महत्या कर लेंगे ।" इस तरह जब तक उनकी चहलकदमी चलती रहती रसेल भी चुपचाप बैठे रहते - बारह बजे रात से सुबह तीन-चार बजे तक ![16]

[एसपर्जर्स सिंड्रोम के अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ **डॉ टोनी एटवुड** के अनुसार विट्गेन्स्टाइन के व्यावहारिक लक्षणों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि वे व्यक्ति के विकास से सम्बन्धित इसी व्याधि (एसपर्जर्स सिंड्रोम) से ग्रसित थे - इस व्याधि से ग्रस्त लोगों को सामाजिक रूप से घुलने-मिलने और गैर-शाब्दिक संवाद में काफी दिक्कत आती है और साथ ही, उनमें व्यवहार तथा रुचियों में बाधित एवं दुहरावभरी प्रक्रिया देखी जाती है ।

लुडविग आजीवन अविवाहित रहे । लेकिन ऐसा माना जाता है कि उनके तीन पुरुष-प्रेमी थे - 1912-18 के दौरान डेविड ह्यूम पिनसेंट, 1930 के दशक में **फ्रांसिस स्किनर** और 1940 के दशक के उत्तरार्ध में **बेन रिचर्ड्स** । पिनसेंट दार्शनिक डेविड ह्यूम के वंशज और गणित में स्नातक थे । बर्ट्रेंड रसेल ने ही विट्गेन्स्टाइन की उनसे मुलाकात करवाई थी । आइसलैंड और नार्वे के प्रवास में वे ही उनके संगी थे और 'ट्रैक्टेटस' उन्हीं की स्मृति को समर्पित है ।

किशोरावस्था में वियेना की एक महिला के साथ अपने सम्बन्ध की बात विट्गेन्स्टाइन ने बाद में खुद बताई है । 1920 के दशक में तो वे एक युवा स्विस महिला **मार्गेरिटा रेसपिंजर** के प्यार में दीवाने हो गये थे - उन्होंने रेसपिंजर की एक मूर्ति भी बनाई थी और उनके समक्ष (बच्चे न होने की शर्त पर) विवाह का प्रस्ताव भी रखा था ।

हाफ गे ?]

अपने अस्तित्वपरक तनाव और आत्महत्या के विचारों के साथ सचेत रूप से जूझते हुए विट्गेन्स्टाइन एक वालंटियर के रूप में प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल हुए, तो इसके पीछे उनका मकसद इस बात की परीक्षा करना भी था कि वे अपने इस संघर्ष में कहाँ तक कामयाब हुए हैं, और यह कि क्या युद्ध की स्थितियों में भी वे अपना मनोबल कायम रख सकते हैं ? युद्ध मोर्चे पर ही पढ़ने के लिए कुछ खोजने

के क्रम में उन्हें **टॉल्सटॉय** की एक किताब हाथ लगी 'द गोस्पेल इन ब्रीफ' (संक्षिप्त सुसमाचार) और पूरे युद्ध के दौरान वे इसे बीच-बीच में पढ़ते रहते । साथी सैनिकों ने उनका नाम ही रख दिया था 'गोस्पेलवाला वालंटियर' । इसी किताब के एक अध्याय में उन्हें यह सूत्र लिखा मिला : 'अतः सच्चा जीवन वर्तमान में ही जिया जाता है ।' यही वाक्य ट्रैक्टेटस में सूत्र 6.4311 में इस तरह आया है : 'यदि हम अमरता को अनन्त कालावधि न समझकर कालाभाव समझें तो शाश्वत जीवन वर्तमान में जीनेवाले व्यक्तियों के लिए होगा ।' वर्तमान में जीने का यह सूत्र फेनोमेनोलॉजी का भी महत्वपूर्ण सूत्र है । उनके मनोजगत के निर्माण में आगे भी टॉल्सटॉय की रचनाओं का गहरा प्रभाव रहा - टॉल्सटॉय की कहानियों का एक संग्रह 'ट्वेंटी थ्री टेल्स' भी उन्हें काफी प्रिय था और कहा जाता है कि निजी सम्पत्ति और निजी भूस्वामित्व के उनके विरोध का एक स्रोत टॉल्सटॉय का वैचारिक-नैतिक प्रभाव था ।

युद्ध में शामिल होने के अपने मकसद में वे कामयाब हुए और उनकी कामयाबी का प्रमाण है 'ट्रैक्टेटस' । बहरहाल, अपने अस्तित्वपरक तनाव से वे आगे भी जूझते रहे ।

1913 में पिता की मृत्यु के बाद, लुडविग को पिता की ज़ायदाद का एक अच्छा-खासा हिस्सा विरासत में मिला । जैसा कि हम पहले बता चुके हैं, उन्होंने करीब पाँच लाख डॉलर की सम्पत्ति विभिन्न कलाकारों-साहित्यकारों को गुप्त दान में दे दी । विट्गेन्स्टाइन ने अपने एक विश्वासी सम्पादक [वियेना से प्रकाशित पत्रिका 'डेर ब्रेनर' (द बर्नर) के सम्पादक **लुडविग वॉन फिकर**] को यह जिम्मेवारी सौंपी कि वे कलाकारों-साहित्यकारों की एक सूची बनायें जिन्हें यह गुप्त दान देना था । यह जुलाई 1914 की बात है । ऐसे सत्रह लोगों की सूची तैयार हुई जिनमें तीन अपने-अपने क्षेत्र में ख्याति अर्जित करनेवाले ऑस्ट्रियाइयों की थी । सबसे बड़ी राशि (करीब एक लाख डॉलर) मिली प्रख्यात कवि **रैनर मारिया रिल्के** को । ऑस्ट्रियाई चित्रकार **ऑस्कर कोकोश्का** को करीब पच्चीस हजार डॉलर और वास्तुशिल्पी **अडोल्फ लूस** को करीब दस हजार डॉलर मिले । (हाल ही में '**दि न्यूयार्क रिव्यू ऑफ बुक्स**' में प्रकाशित अपने लेख '**द मिस्टीरियस म्युजिक ऑफ ज्यॉर्ज त्राक्ल**' में **क्रिस्टोफर बेनफे** का मानना है कि सबसे बड़ी राशि (पंचानबे हजार डॉलर) त्राक्ल को मिली थी । विट्गेन्स्टाइन के वे प्रिय कवि थे - युद्ध के पूर्वी मोर्चे पर तैनात त्राक्ल मनोरोगी के रूप में अस्पताल में भर्ती थे । वालंटियर विट्गेन्स्टाइन को भी उन दिनों पूर्वी मोर्चे पर भेज दिया गया था और वे त्राक्ल से मिलने को लेकर काफी उत्साहित थे । उनसे मिलना भी तय हो चुका था, लेकिन तय तारीख के करीब चौदह दिन पहले ही त्राक्ल ने 1 नवम्बर, 1914 को आत्महत्या कर ली ।)[17] वियेना से ही प्रकाशित '**डाइ फैकेल**' ('द फ्लेम') के सम्पादक **कार्ल क्रॉउस** को भी अच्छी राशि मिली थी ।

1988 में विट्गेन्स्टाइन को लिखे तर्कशास्त्री-गणितज्ञ गोट्टलिब फ्रेगे के कुल इक्कीस कार्डों और पत्रों को खोज निकाला गया । दरअसल, 1930 के दशक में **हायनरिख शोल्ज** फ्रेगे के पत्राचारों का एक संग्रह

प्रकाशित करना चाहते थे । उनकी योजना मुन्सटर विश्वविद्यालय में फ्रेगे संग्रहालय स्थापित करने की भी थी । रसेल ने इस पहलकदमी का स्वागत करते हुए फ्रेगे के साथ अपने पत्राचार की मूल प्रतियाँ उन्हें सौंप दी थी । लेकिन बार-बार अनुरोध के बावजूद, विट्गेन्स्टाइन ने (यह कहते हुए कि उनके पत्राचार निजी हैं और उनमें दार्शनिक महत्व का कुछ भी नहीं है) शोल्ज को किसी भी तरह का सहयोग देने से साफ इन्कार कर दिया था । उनके तर्क से शोल्ज और अन्य लोग भी सहमत नहीं थे लेकिन विट्गेन्स्टाइन आखिर तक नहीं माने । फलतः ये पत्र 1988 तक अनुपलब्ध ही रहे ।[18]

जून 1919 से अप्रैल 1920 के बीच फ्रेगे-विट्गेन्स्टाइन पत्राचार के अन्तिम चार पत्रों से यह स्पष्ट है कि फ्रेगे ने 'ट्रैक्टेटस' को वह महत्व नहीं दिया जिसकी विट्गेन्स्टाइन ने अपेक्षा की थी, उन्होंने विट्गेन्स्टाइन को उसमें कुछ संशोधन सुझाये थे, और संशोधित रूप में ही उसके प्रकाशन में सहयोग देने की इच्छा जताई थी । वे विट्गेन्स्टाइन के स्पष्टीकरणों से भी संतुष्ट नहीं थे । जैसाकि अब हम जानते हैं, विट्गेन्स्टाइन फ्रेगे के सुझावों को बिल्कुल निरर्थक मानते थे और उनके रुख़ से काफी आहत थे । 1919 में उन्होंने रसेल को लिखा कि फ्रेगे को 'ट्रैक्टेटस' का एक शब्द भी समझ में नहीं आया, और एक भी व्यक्ति द्वारा उसे न समझा जाना उनके लिए अत्यन्त पीड़ादायक था । बहन हरमिन के समक्ष भी उन्होंने फ्रेगे के रुख़ से अवसादग्रस्त होने की बात स्वीकारी थी ।

इन्हीं पत्रों से यह भी पता चलता है कि विट्गेन्स्टाइन ने फ्रेगे को भी 1918 के आरम्भ में अच्छी-खासी रक़म दी थी । फ्रेगे की आर्थिक हालत काफी खराब थी और युद्ध के अन्तिम दिनों में तो वे गरीबी के मुहाने पर आ पहुँचे थे । विट्गेन्स्टाइन की इस मदद के बिना अवकाश ग्रहण के बाद वे अपने गृहनगर बाड क्लाइनेन में अपना एक घर भी नहीं खरीद पाते ।

इस प्रकार बहन ग्रेटल का घर बनवाने के बाद वे विरासत में प्राप्त ज़ायदाद से मुक्त हो चुके थे । इसके बाद का विवरण हम पहले दे चुके हैं । यहाँ हमारा उद्देश्य विट्गेन्स्टाइन की जीवनी के विस्तार में जाना नहीं है । उनकी जीवनी के कुछ प्रसंग हम आगे के लिए सुरक्षित रखते हैं ।

यह प्रसंग समाप्त करने के पहले बताते चलें कि पारिवारिक कुलनाम विट्गेन्स्टाइन दरअसल उधार का लिया हुआ कुलनाम था, असली नहीं । 'ट्रैक्टेटस' की शब्दावली में कहें तो 'लुडविग विट्गेन्स्टाइन हैं', यह एक असत्यात्मक प्रतिज्ञप्ति थी । द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यरुसलम में तैयार की गई वंशावली के अनुसार उनके परदादा **मोसेर माइयेर** जर्मन प्रदेश वेस्टफेलिया स्थित विट्गेन्स्टाइन की जागीर में जमीन के दलाल थे और उसी जागीर के बाड लास्फे नामक स्थान में अपनी पत्नी **ब्रेंडेल सिमोन** के साथ रहते थे । यह प्रदेश उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में नेपोलियन के साम्राज्य के अधीन था । 1808 में नेपोलियन ने एक आदेश जारी कर यहूदियों सहित सभी परिवारों के लिए एक दाययोग्य पारिवारिक कुलनाम ग्रहण

करना अनिवार्य बना दिया । मोसेर के यहूदी परिवार ने अपने जागीरदार **सेएन-विट्गेन्स्टाइन** का ही कुलनाम ग्रहण कर लिया और मोसेर माइयेर **मोसेर माइयेर विट्गेन्स्टाइन** बन गये । यहूदी पृष्ठभूमि से दूरी बनाते हुए उनके पुत्र **हरमन** ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया और अपना पूरा नाम रखा **हरमन क्रिश्चियन विट्गेन्स्टाइन** ।

विट्गेन्स्टाइन ऑस्ट्रियन स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स के प्रख्यात अर्थशास्त्री और नोबेल पुरस्कार विजेता **फ्रेडरिख़ हायेक** के मौसेरे भाई थे, हालांकि आर्थिक-राजनीतिक मसलों पर उनके विचार काफी भिन्न थे ।

कैम्ब्रिज से अवकाश ग्रहण (1947) के बाद उन्होंने अपना ज्यादा वक़्त आयरलैंड में बिताया - पहले डब्लिन में, फिर उसके पश्चिमी तट पर । बीमार पड़ने के बाद वे अपने मित्रों के पास पहले ऑक्सफोर्ड, और फिर कैम्ब्रिज आ गये । फरवरी 1951 में उन्होंने कैंसर का इलाज भी बन्द करवा दिया और अपने चिकित्सक **डॉ एडवर्ड बेवन** और उनकी पत्नी के आमंत्रण पर उनके अन्तिम महीने उन्हीं के आवास पर गुजरे । 29 अप्रैल, 1951 को उनका निधन हो गया । वर्षों बाद डॉ बेवन ने लिखा, “इसके पहले किसी ने मेरे ऊपर इतनी गहरी छाप नहीं छोड़ी थी । मैं उनका सम्मान और उनसे प्यार करता था । वे एक महान और भले व्यक्ति थे और सर्वोपरि, ईमानदार, विनम्र, निर्भय और कृतज्ञ । मुझे नहीं लगता कि अन्त समय वे दुःखी थे । अचेत होने से पहले श्रीमती बेवन को अँग्रेजी में कहे गये उनके अन्तिम शब्द थे, ‘**उनलोगों से कहिएगा मेरा जीवन शानदार गुजरा !**’ ”

ऊपर हमने उनके जीवन के अस्तित्वपरक तनावों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है, उसकी पृष्ठभूमि में हम उनके आद्य-अस्तित्ववाद के प्रति आकर्षण का सूत्र पा सकते हैं ।

प्रथम विश्वयुद्ध में हार के बाद जर्मनी खुद अस्तित्व के गंभीर संकट से गुजर रहा था । यहाँ उन दिनों की उथल-पुथल भरी दुनिया पर सरसरी निग़ाह डालना अप्रासंगिक नहीं होगा ।

4. मध्यान्तर

बीसवीं सदी की पहली अर्धशती अद्‌भुत अर्धशती थी । मानवजाति के हजारों वर्षों के इतिहास में चार-पाँच दशकों की ऐसी कालावधि का कोई मिलता-जुलता उदाहरण शायद ही मिले । यहाँ इस कालावधि के किसी भी पक्ष का अत्यन्त संक्षिप्त विवरण देना भी असंभव है, इसीलिए सिर्फ संकेत भर देकर मैं आगे बढ़ जाऊँगा - वह भी विशेषकर पश्चिमी दुनिया (यूरोप और अमेरिका) के संदर्भ में ।

बीसवीं सदी का आग़ाज़ ही क्वांटम तथा सापेक्षता के सिद्धान्त की उद्घोषणा से हुआ - इस वैज्ञानिक क्रान्ति ने न सिर्फ विज्ञान की दुनिया को उलट-पुलट कर रख दिया, बल्कि हमारे जीवन के सभी पक्षों को अभूतपूर्व रूप में प्रभावित किया । सौ साल बाद आज हम जिन जादुई गैजेट्स की दुनिया से घिरे हैं, वे सब उसी क्रान्ति की देन हैं ।

अब उन चीजों की दुनिया पर नज़र डालिए जो हमारे जीवन के अंग बन चुके हैं - मोटर कार, हवाई जहाज, सिनेमा, टेलीविजन, कम्प्यूटर सभी उन्हीं दिनों की देन हैं । रेडियो का बड़े पैमाने पर व्यावसायिक विस्तार भी उसी अर्धशती में हुआ । उत्पादन के क्षेत्र में इसने असेम्बली-लाइन मास प्रोडक्शन के 'मॉडर्न टाइम्स' का आग़ाज़ किया, और विज्ञापन तथा ब्रांडिंग के सम्मोहक संसार ने उसी अर्धशती में हमें अपने मोहपाश में जकड़ना शुरू किया । स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक्स-रे, रेडियो थेरेपी, पेनसिलिन, आदि के आविष्कार और उपयोग का भी वही समय है ।

कला के क्षेत्र में अभिनव प्रयोग और आन्दोलन - क्यूबिज्म, दादावाद, सरियलिज्म, आदि - उसी दौर में परवान चढ़े । साहित्य के क्षेत्र में कहना ही क्या ? यह अर्धशती ऑस्कर वाइल्ड, जेम्स ज्वायस, मार्सेल प्रुस्त, वर्जीनिया वुल्फ, डी एच लारेंस, काफ्का जैसे रचनाकारों की अर्धशती तो थी ही, वह कला-साहित्य के क्षेत्र में अनेक प्रगतिशील आन्दोलनों की भी अवधि थी । मनोविश्लेषण के क्षेत्र में फ्रायड, तो नारी आन्दोलन तथा विमर्श के क्षेत्र में सिमोन द बोवुआर ने इस अर्धशती की शिला पर अपनी मजबूत, गाढ़ी लकीर खींच दी थी । दर्शन के क्षेत्र में होनेवाली हलचलों का हम आगे जायजा लेंगे ।

बहरहाल, यही अर्धशती अनेक युद्धों और गृहयुद्धों से होते हुए दो-दो विश्वयुद्धों की भी अर्धशती थी जिनमें करोड़ों लोग मारे गये और उत्पादक शक्तियों की अभूतपूर्व बर्बादी हुई ।

इसी अर्धशती में दो बड़ी क्रान्तियाँ हुईं - रूसी (1917) और चीनी (1949) क्रान्तियों ने वैश्विक शक्ति-संतुलन को न सिर्फ बदल कर रख दिया, बल्कि पूँजीवादी समाज के विकल्प के रूप में एक नई समाज व्यवस्था की स्थापना की आकांक्षाओं को भी जबर्दस्त आवेग प्रदान किया । इसी कालावधि में श्रमिक आन्दोलन ने महत्वपूर्ण आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक अधिकार हासिल किये, नारी आन्दोलन मजबूत हुआ और सार्विक वयस्क मताधिकार भी साकार हुआ । औपनिवेशिक तथा अर्ध-औपनिवेशिक देशों में स्वतंत्रता आन्दोलनों और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों ने इसी दौर में विराट जुझारू जन-संघर्षों का स्वरूप ग्रहण किया ।

लेकिन इसी कालावधि ने फासीवादी-नाजीवादी-नस्लवादी शक्तियों का भयावह उत्थान देखा, उनका विध्वंसक अभियान देखा, यातना-शिविरों और ऑउशवित्ज में उनकी नृशंसताएँ देखीं, और अन्ततः, इन

बर्बर शक्तियों के खिलाफ अनेक वीरतापूर्ण युद्धों, बलिदानों, संघर्षों तथा प्रतिरोधों के परिणामस्वरूप उनका विनाश भी देखा ।

पूँजीवाद तो इस अर्धशती में मौत की कगार पर जाकर किसी तरह पलटा - यह 1929 की महामंदी की अर्धशती भी थी जिसे आजतक पूँजीवाद के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील के पत्थर के रूप में दर्ज किया जाता है । दो विश्वयुद्धों, दो बड़ी क्रान्तियों, नाजीवाद-फासीवाद और इन सब के बीच महामंदी ने पूँजीवादी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक इमारत की नींव ही हिला कर रख दी थी । इसी अवधि में संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व पूँजीवाद के सबसे महत्वपूर्ण स्तम्भ और एक प्रभुत्वशाली वैश्विक महाशक्ति के रूप में उभरा ।

महज पचास साल की संक्षिप्त अवधि में एक साथ इतने सारे युगान्तरकारी परिवर्तन इतिहास ने, मानव समाज ने पहले कभी नहीं देखा था । यही लुडविग विट्गेन्स्टाइन की दुनिया थी - इसी अर्धशती के समाप्त होते ही (29 अप्रैल, 1951 को) मात्र बासठ वर्ष की उम्र में उनका देहान्त हो गया ।

आगे हम इसी दुनिया में तब सक्रिय दार्शनिक समूहों तथा धाराओं का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे ।

मार्क्सवादी दर्शन : बीसवीं सदी के प्रथम अर्धांश में यूरोप के लगभग सभी प्रमुख देशों में मार्क्सवादी दर्शन और विचारों की प्रभावकारी उपस्थिति थी । कम्युनिस्टों के अलावा यूरोप के अनेक प्रमुख गैर-कम्युनिस्ट लेखकों, दार्शनिकों, वैज्ञानिकों, कलाकारों आदि की पूँजीवादी समाज की विकृतियों, विषमताओं और बर्बरताओं से मुक्त एक वैकल्पिक समाज-व्यवस्था के निर्माण में गहरी दिलचस्पी थी और इस लिहाज से सोवियत संघ में किये जा रहे प्रयोगों और प्रयासों के प्रति उनमें स्वभावतः एक आकर्षण था । यहाँ हम ऐसे लोगों की सूची नहीं दे सकते - ऐसे अनेक लोग विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों से जुड़े थे और अपने-अपने क्षेत्र में काफी सक्रिय थे । सोवियत संघ के पतन के बाद 1990 के दशक से आप जो वैचारिक माहौल देखते हैं, उस नजरिये से आप उन दिनों के माहौल का अन्दाजा नहीं लगा सकते । वे एक कथित यूटोपिया के साकार होने की संभावनाओं के दिन थे - 1990 के दशक की तरह (अनेक कम्युनिस्ट हल्कों में) यूटोपिया की अवसादपूर्ण स्मृति में कायान्तरण के नहीं ।[19]

मार्क्सवादी दर्शन के आधिकारिक व्याख्याता के रूप में **ब्लादिमिर इलिच लेनिन** (1870-1924) उन दिनों खुद मौजूद थे और प्रथम विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों (नवम्बर 1917) में रूस में एक सफल क्रान्ति का नेतृत्व कर चुके थे ।

यह क्वांटम क्रान्ति का प्रारम्भिक दौर था - परमाणु बिखंडित हो चुका था, लेकिन उसके अन्दर छिपी सूक्ष्म-कणों की दुनिया पूरी तरह स्पष्ट नहीं थी । वस्तु ऊर्जा में परिवर्तित हो गया था, लेकिन वस्तु और ऊर्जा के अन्तर्सम्बन्धों पर वैज्ञानिकों में ही पर्याप्त विवाद था ।

विज्ञान में इस क्रान्ति ने दार्शनिक विमर्श के क्षेत्र में भी हलचल मचा रखी थी । कई दार्शनिक थे जो इस क्रान्ति के आलोक में वस्तु के 'विलुप्त' हो जाने, उसकी 'मृत्यु' की घोषणा कर चुके थे । रूसी सामाजिक-जनवादी आन्दोलन (खासकर मेन्शेविकों) से जुड़े कई प्रमुख नेता और विचारक भी इन नयी खोजों की रोशनी में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की पुनर्समीक्षा करने के नाम पर भाँति-भाँति की प्रत्यक्षवादी, भाववादी-रहस्यवादी और 'अनुभवसिद्ध आलोचना' जैसी प्रस्थापनाओं के साथ अवतरित हो रहे थे । एक बार फिर देकार्ते, कांट, बर्कले, ह्यूम, हेगेल की रचनाएँ खंगाली जा रही थीं । वैसे भी यह दौर था जब दार्शनिक विमर्श की मुख्य धारा दो प्रमुख शिविरों में बंटी थी - एक ओर अपनी कुछेक उपधाराओं के साथ प्रत्यक्षवादी (कॉम्टे), परिणामवादी (विलियम जेम्स), तथा साधनवादी (जॉन द्यु) धारा, और दूसरी ओर, अपनी सहायक उपधाराओं के साथ मार्क्सवादी-द्वंद्वात्मक-भौतिकवादी धारा ।

रूस के कुछ दार्शनिक भी वस्तु के ऊर्जा में रूपान्तरित होने की पृष्ठभूमि में 'भूत' के गायब हो जाने का दावा कर रहे थे - और अगर 'भूत' की ही मृत्यु हो गई थी तो भौतिकवाद जिन्दा कैसे रह सकता था ? ये दार्शनिक एक जर्मन दार्शनिक **अर्नेस्ट माख** (1838-1916) से प्रभावित थे - माख प्राग तथा वियेना में भौतिकी और विज्ञान के दर्शन (फ़िलोसॉफ़ी ऑफ साइंस) के प्रोफेसर थे । वैसे तो वे प्रत्यक्षवादी धारा के ही प्रमुख दार्शनिक थे, लेकिन उन्होंने अपने समय में प्रचलित भोंडे प्रत्यक्षवाद की अपनी परिष्कृत नव-कांटवादी स्थिति से आलोचना की थी । उनका दर्शन 'अनुभवसिद्ध आलोचना' के नाम से जाना जाता था और उसका ऑस्ट्रियाई सामाजिक-जनवादियों पर खासा प्रभाव था । 1897 में लाइपजिग से (जर्मन भाषा में) माख की एक किताब प्रकाशित हुई थी 'मैकेनिक्स: ए हिस्टोरिकल एण्ड क्रिटिकल अकाउण्ट ऑफ इट्स डेवेलपमेंट' । 1898 में ओपेन कोर्ट, शिकागो से प्रकाशित 'पोपुलर साइंटिफिक लेक्चर्स' में भी उनका एक आलेख संकलित था - 'ऑन द प्रिंसिपल्स ऑफ कम्पेरिजन इन फिजिक्स' । रूसी दार्शनिक **अलेक्सान्द्र मालिनोव्स्की** (उपनाम बोग्दानोव), **युश्केविच**, **निकोलाई वोल्स्की** (उपनाम वेलेंतिनोव), **ऑस्कर ब्लुम** (उपनाम रख्मेतोव) आदि इन्हीं माख के विचारों से प्रभावित थे ।

अर्नेस्ट माख और उनके अनुयायी रूसी दार्शनिकों के विचारों का खण्डन करते हुए और विज्ञान के क्षेत्र में हो रही क्रान्ति के परिप्रेक्ष्य में द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए लेनिन ने 1908 में (फरवरी से अक्टूबर के बीच) एक किताब लिखी **'मेटेरियलिज़्म एण्ड इम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म'** (भौतिकवाद और अनुभवसिद्ध आलोचना) ।[20] प्रकाशित रूप में यह किताब 1909 में आई ।

मार्क्सवादी दार्शनिक साहित्य के लिहाज से यह किताब **फ्रेडरिख़ एंगेल्स** द्वारा लिखी गई किताब '**एंटी-ड्युहरिंग**' (ड्युहरिंग मत-खण्डन, 1878) के तीस वर्ष बाद सबसे महत्वपूर्ण कृति थी । दोनों में काफी समानताएँ भी थीं । ड्युहरिंग की किताब और उनके विचारों से उन दिनों जर्मन सामाजिक-जनवादी आन्दोलन के कई वरीय नेता भी काफी प्रभावित थे । ड्युहरिंग ने भी नई वैज्ञानिक खोजों तथा गणित के क्षेत्र में होनेवाले नये विकासों के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स की प्रस्थापनाओं को सुधारने, उन्हें परिष्कृत करने और नये विचारों के प्रवर्तन का दावा किया था । यही स्थिति रूस की भी थी । दोनों किताबों में आधुनिक यूरोप की विभिन्न दार्शनिक धाराओं - देकार्ते, काण्ट, दिदेरो, बर्कले, ह्यूम, हेगेल आदि - की समीक्षा तो है ही, साथ ही गणित और विज्ञान के क्षेत्र में होनेवाली अद्यतन प्रगति तथा उनके दार्शनिक निहितार्थों का भी गंभीर विवेचन है । दोनों लेखक, जाहिर है, इन दार्शनिक विवादों को समाज में चलनेवाले वर्गों/दलों के बीच के संघर्षों के साथ जोड़कर देखते हैं । उनकी नजर में आधुनिक दर्शनशास्त्र भी उतना ही पक्षपाती है जितना दो हजार साल पहले का दर्शनशास्त्र ।

वस्तु के ऊर्जा में रूपान्तरण तथा ऊर्जा-विज्ञान के विकास के संदर्भ में 'भूत' के गायब हो जाने की जो बात कही जा रही थी, उसके बारे में लेनिन का कहना था कि समस्या 'वस्तु' की भौतिकवादी दृष्टि को समझने में असमर्थता थी । वस्तु-रूपों के रूपान्तरण को वस्तु का रूपान्तरण समझ लिया गया, और इस प्रकार वस्तु के विलोप की मुनादी कर दी गई । दरअसल, भौतिकवादी दृष्टि में, '**वस्तु एक दार्शनिक प्रवर्ग है**, जो मनुष्य की संवेदनाओं द्वारा वस्तुगत यथार्थ को निर्दिष्ट करता है, हमारी संवेदनाओं द्वारा इसकी प्रतिलिपि तैयार की जाती है, इसकी छवि उतारी जाती है, इसे प्रतिबिम्बित किया जाता है, जबकि यह वस्तुगत यथार्थ हमारी संवेदनाओं से स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान होता है ।' एक दार्शनिक प्रवर्ग के रूप में वस्तु के विलोप का शोरगुल, इसलिए, हास्यास्पद प्रलाप मात्र है ।[21]

लेनिन की नजर में इस भ्रमजाल का कारण यह है कि वैज्ञानिकों ने परमाणु का बिखंडन तो कर दिया है, लेकिन इस बिखंडन के बाद सूक्ष्म-कणों की दुनिया अभी उजागर नहीं हुई है - वे परमाणु को पीछे छोड़ आगे बढ़ गये हैं, लेकिन इलेक्ट्रॉन की दुनिया में उन्होंने अभी कदम नहीं रखा है । यह अन्तराल, यह अवकाश ही अनेक भ्रमों की जननी है - इस अन्तराल के कारण कुछ दार्शनिकों को ऊर्जा-विज्ञान की दुहाई देकर भौतिकवाद से भाववाद में पाला बदलने का बहाना मिल गया है । लेनिन जब यह लिख रहे थे, उसी समय उन्हें नयी जानकारी मिली और उन्होंने आगे लिखा, 'अभी बस तीन महीने पहले (22 जून, 1908 को) **ज्यां बेकेरल** ने फ्रेंच एकेडेमी ऑफ साइंस को बताया कि उन्हें पदार्थ के एक नये संघटक अंग - पोजिटिव इलेक्ट्रॉन (पोजिट्रोन) - की खोज में सफलता मिली है ।'[22] वैज्ञानिक प्रयोगों की तत्कालीन अवस्था - जहाँ नित नयी सूचनाएँ मिल रही थी - दार्शनिक भ्रमजाल का बस एक प्रकट कारण था ।

लेनिन की नजर में, असल कारण वस्तु और ऊर्जा के पारस्परिक सम्बन्ध की, उनके एक-दूसरे में रूपान्तरण की **द्वंद्वात्मक अन्तःक्रिया** की सही समझ का अभाव था ।

अपने समर्थन में वे वैज्ञानिक **हायनरिख़ हर्त्ज** की (1899 में मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लंदन, द्वारा प्रकाशित) किताब 'द प्रिन्सपल्स ऑफ मैकेनिक्स: प्रजेण्टेड इन अ न्यू फॉर्म' से उद्धरण देते हुए लिखते हैं कि 'ऊर्जा के बारे में किसी गैर-भौतिकवादी दृष्टि की संभावना तो उनके दिमाग में कभी आई ही नहीं - वे तो ऊर्जा-विज्ञान को एक संक्रमणकालीन अवस्था में भौतिक गति को अभिव्यक्त करने का एक सुविधाजनक तरीका मानते थे ।'[23]

यहाँ हम लेनिन की किताब (1909) और विट्गेन्स्टाइन की 'ट्रैक्टेटस' (1922) के बीच एक साझा सूत्र देखते हैं, हायनरिख़ हर्त्ज के रूप में । विट्गेन्स्टाइन भी अपनी किताब में हर्त्ज की 'मैकेनिक्स' का हवाला देते हैं । वैसे, दोनों किताबों में सहमति-असहमति के अनेक दिलचस्प सूत्र आपको मिल जाएँगे, लेकिन यहाँ हमारा इरादा किसी तुलनात्मक अध्ययन का नहीं है । 1920 में लेनिन की किताब का दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, लेकिन उन्होंने इसके मूल पाठ में कोई संशोधन नहीं किया । तब तक ईथर की अवधारणा वैज्ञानिक पूरी तरह ख़ारिज कर चुके थे, लेकिन किताब से उसे हटाया नहीं गया था ।

यहाँ हम फिलहाल **जोसेफ स्तालिन** और **लियोन त्रॉत्स्की** की चर्चा नहीं करेंगे । 1930 के दशक के उत्तरार्ध में स्तालिन-त्रात्स्की विवाद के बाद मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों का एक छोटा हिस्सा त्रात्स्की के साथ जुड़ गया था - यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों, ट्रेड यूनियनों, संस्थानों तथा दलों में भी उनकी उपस्थिति देखी जा सकती थी ।

1930 के दशक के मध्य में चीन में **माओ जेदुंग** का नेतृत्व कम्युनिस्टों के बीच स्थापित हो चुका था और उनकी दो दार्शनिक रचनाएँ - 'अन्तर्विरोध के बारे में' (अगस्त 1937) और 'व्यवहार के बारे में' (जुलाई 1937) लिखी जा चुकी थीं, लेकिन माओ की वैश्विक ख्याति बाद की परिघटना है ।

इटली के कम्युनिस्ट नेता **अंटोनियो ग्राम्सी** की यूरोप में अपनी पहचान बन चुकी थी । इटली में फासीवाद के सत्तासीन होने और उनके जेल में रहने के बावजूद यूरोप के बौद्धिक हल्कों में उनकी ख्याति थी, हालांकि उनका पूरा लेखन अभी आना और बहुप्रचारित होना बाकी था ।

हंगरी के **ज्यार्ज लुकाच** (1885-1971) यूरोप के बौद्धिक जगत में जाने-माने विचारक थे । उनकी प्रमुख कृति 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कनशसनेस' 1922 में प्रकाशित हो चुकी थी और दार्शनिकों के बीच चर्चित रचना थी ।

यह थी उन दिनों आधिकारिक मार्क्सवादी दार्शनिकों की एक संक्षिप्त झांकी । बहरहाल, अमेरिका तथा यूरोप के विश्वविद्यालयों, शैक्षणिक तथा अनुसंधान संस्थानों में ऐसे अनेक मार्क्सवादी दार्शनिक और विचारक थे जो सीधे तौर पर किसी मार्क्सवादी पार्टी अथवा संगठन से जुड़े न होकर भी अपने अध्ययन-अध्यापन-अनुसंधान में मार्क्सवादी दृष्टि तथा पद्धति का अनुसरण करते थे ।

क्रिटिकल थ्योरी (फ्रैंकफुर्ट स्कूल) : प्रथम विश्वयुद्ध में हार के बाद जर्मनी खुद अस्तित्व के गंभीर संकट से गुजर रहा था । विजेता राष्ट्रों ने उसके सारे उपनिवेश छीन लिये और खुद महाद्वीपीय यूरोप में उसकी सीमाओं में मनमाने ढंग से फेरबदल कर दिया था । अन्दरूनी तौर पर जर्मनी युद्ध में पराजित होने के बाद गंभीर आर्थिक संकट और राजनीतिक अराजकता की स्थिति से गुजर रहा था ।

बीसवीं सदी के आरम्भिक दशकों में जर्मनी की **सामाजिक-जनवादी पार्टी** (एसपीडी) देश की प्रमुख राजनीतिक पार्टी बन चुकी थी । उन दिनों मार्क्सवाद से प्रभावित पार्टियाँ सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ कहलाती थीं - रूस में लेनिन के नेतृत्ववाली पार्टी का भी यही नाम (रूसी सामाजिक-जनवादी मजदूर पार्टी) था । शताब्दी के शुरू के वर्षों में इसमें फूट पर गई थी और बहुमतवाला दल इस नाम के साथ कोष्ठक में 'बोल्शेविक' लिखता था । ये सारे सामाजिक-जनवादी दल **दूसरे इंटरनेशनल** से जुड़े थे जिसके नेता **कार्ल काउत्स्की** थे ।

बहरहाल, सारायेवो में ऑस्ट्रियाई युवराज **फ्रांज फर्डिनांड** की हत्या के बाद जब महायुद्ध के बादल मंडराने लगे, तो सामाजिक-जनवादी पार्टी ने देश भर में जुलाई 1914 में युद्ध-विरोधी प्रदर्शन आयोजित किया था । लेकिन अगले ही महीने जब जर्मनी ने रूस के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी (अगस्त 1914), तो कुछ नेताओं को छोड़कर पूरी एसपीडी युद्ध के पक्ष में उतर आई । 1914 में ही दूसरा इंटरनेशनल भी भंग हो गया - या यूं कहिए कि रूस को छोड़कर अन्य सभी देशों की सामाजिक-जनवादी पार्टियाँ अपने-अपने देशों के शासक वर्गों के युद्ध-प्रयासों के पक्ष में खड़ी हो गईं ।

दिसम्बर 1914 में, जर्मनी के चैम्बर ऑफ डेपुटीज (लोकसभा) में युद्ध-ऋण का प्रस्ताव लाया गया, तो सिर्फ एक सामाजिक-जनवादी डेपुटी (सांसद) **कार्ल लीब्कनेख़्त** उसके खिलाफ बोलने के लिए खड़े हुए, लेकिन उन्हें बोलने नहीं दिया गया । तब उन्होंने एक पर्चा जारी कर जर्मन सैनिकों से अपनी ही सरकार के खिलाफ बन्दूकें मोड़ देने और उसे उखाड़ फेंकने का आह्वान किया । लीब्कनेख़्त ने अपने पर्चे में लिखा कि 'यह एक साम्राज्यवादी युद्ध है । यह औद्योगिक तथा वित्तीय पूँजी के हित में विश्व बाजार पर नियंत्रण के लिए और विशाल भूभागों पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने के लिए छेड़ा गया युद्ध है ।' लीब्कनेख़्त को देशद्रोह के अभियोग में जेल में बन्द कर दिया गया । कुछ दिनों के बाद एक अन्य प्रमुख समाजवादी **रोजा लक्ज़मबर्ग** को भी कैद कर लिया गया । रोजा एक प्रखर मार्क्सवादी

सिद्धान्तकार थीं और लेनिन से पार्टी में जनवादी-केन्द्रीयता, सोवियत के स्वरूप, पूँजी के संचय आदि विषयों पर विवाद करती रहती थीं । रोजा की एक प्रमुख रचना थी 'द एकुमुलेशन ऑफ कैपिटल' ।

महायुद्ध के अन्तिम वर्षों में (1917) सामाजिक-जनवादी पार्टी की युद्ध-समर्थक स्थिति के विरोधियों ने **इंडिपेंडेंट सोशल-डिमोक्रेटिक पार्टी** (यूएसपीडी) का गठन कर लिया । लीब्कनेख़्त और रोजा के अनुयायियों ने भी तब तक और भी क्रान्तिकारी स्थिति अपनाते हुए '**स्पार्टकस लीग**' का गठन कर लिया था (1 जनवरी, 1916) । 1918 में जर्मनी की तेजी से खस्ताहाल होती सैन्य स्थिति तथा जर्मन शहरों में हड़ताल की एक-के-बाद-एक होती घटनाओं ने (नवम्बर 1917 की रूसी क्रान्ति की तरह) जर्मन क्रान्ति की संभावना उत्पन्न कर दी थी - अक्टूबर 1918 में कील के नौसेनिकों ने विद्रोह कर दिया, और एक जर्मन प्रदेश बेवेरिया में सोवियत-शैली के समाजवादी गणतंत्र की स्थापना भी कर दी गई, हालांकि वह अत्यन्त थोड़े दिन ही अपना वज़ूद बनाये रख सकी । नवम्बर 1918 में लीब्कनेख़्त और रोजा लक्ज़मबर्ग जेल से रिहा कर दिये गये - रिहाई के एक दिन बाद ही **बर्लिन** में स्वाधीन समाजवादी गणतंत्र की घोषणा कर दी गई । दिसम्बर 1918 के अन्तिम दिनों में स्पार्टकस लीग, यूएसपीडी और इंटरनेशनल कम्युनिस्ट्स ऑफ जर्मनी (आइकेडी) ने मिलकर एक काँग्रेस का आयोजन किया और इसी काँग्रेस में **जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी** की स्थापना का निर्णय लिया गया । 1 जनवरी, 1919 को लीब्कनेख़्त और लक्ज़मबर्ग के नेतृत्व में जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ और उसी दिन रोजा लक्ज़मबर्ग ने कम्युनिस्टों का आह्वान करते हुए कहा, 'अब हमें पूँजीवाद को हमेशा के लिए नेस्तनाबूद करने की दिशा में गंभीरतापूर्वक लग जाना चाहिए । इतना ही नहीं, हम आज इस कार्यभार को पूरा करने की स्थिति में हैं, ऐसा करना न सिर्फ सर्वहारा वर्ग के प्रति अपने कर्तव्य का निर्वाह करना है, बल्कि यही मानव समाज को विध्वंस से बचाने का एकमात्र उपाय है ।'[24] (वैसे निजी तौर पर रोजा जर्मनी में तत्काल क्रान्ति के पक्ष में नहीं थी, पर अपने दल के लोगों के निर्णय के बाद वह इस प्रयास में सक्रियता के साथ शामिल हो गई थी ।)

समाजवादी गणतंत्र की घोषणा तो की जा चुकी थी, अब राजधानी बर्लिन पर कम्युनिस्टों ने कब्जा कर लिया । लेकिन यह क्रान्ति भी अल्पकालिक साबित हुई । तब सामाजिक-जनवादी पार्टी की ही सरकार थी - **शायदेमन** प्रधानमंत्री थे और **गुस्ताव नोस्के** युद्ध-मंत्री । इसी पार्टी के नेता **एबर्ट** ने सेना तथा फ्राइकोर्प्स (सेवा-निवृत्त फौजियों का अर्धसैनिक बल) से इस क्रान्ति का दमन करने का आह्वान किया । (एबर्ट बाद में प्रधानमंत्री बने ।) 15 जनवरी, 1919 को बर्लिन पर धावा बोल दिया गया । लक्ज़मबर्ग और लीब्कनेख़्त को गिरफ्तार कर उनकी हत्या कर दी गई । **लक्ज़मबर्ग के शव को बर्लिन के एक नहर में फेंक दिया गया** । एक अनुमान के अनुसार पूरे देश में चले इस प्रतिक्रान्तिकारी अभियान में करीब पच्चीस हजार लोग क़त्लेआम के शिकार हुए । नये युद्धोत्तर जर्मनी की समाजवादी आशाओं के साथ

सामाजिक-जनवादियों ने ही विश्वासघात किया, एबर्ट की नयी सरकार बनी और समाजवादी शहीदों के खून से सने **वाइमार गणतंत्र** का जन्म हुआ । कहानी यहीं खत्म नहीं हुई थी । मात्र चौदह साल बाद (1933 में) इस वाइमर गणतंत्र को भी नाजीवाद की भेंट चढ़ना था ।

1919 में ही लेनिन के नेतृत्व में तीसरे इंटरनेशनल की स्थापना हुई । मार्क्स-एंगेल्स के जमाने से चला आ रहा सामाजिक-जनवाद शब्द अब संशोधनवाद तथा समाजवाद से विश्वासघात का पर्याय बन चुका था । इस सामाजिक-जनवाद से नाता तोड़कर तीसरे इंटरनेशनल से जुड़ी पार्टियाँ अब कम्युनिस्ट पार्टियों के रूप में संगठित हुईं । क्रान्ति की विफलता और फूट तथा विभाजनों के बावजूद, जर्मनी में कम्युनिस्ट पार्टी एक राजनीतिक शक्ति बनी हुई थी ।

इधर, जर्मनी में क्रान्ति की विफलता के बाद, कुछ मार्क्सवादी बुद्धिजीवी एक मार्क्सवादी अनुसंधान संस्थान की स्थापना के लिए प्रयासरत थे । इन्हीं में से एक थे **फेलिक्स वील** । वे फ्रैंकफुर्ट के एक धनी यहूदी व्यवसायी **हरमन वील** के पुत्र थे । फेलिक्स का इरादा एक मार्क्सवादी संस्थान की स्थापना का था, लेकिन तब जर्मनी में 'मार्क्स' के नाम से संस्थान खोलना जोखिम भरा होता । इसीलिए नाम रखा गया **'सामाजिक अनुसंधान संस्थान' । फेलिक्स चाहते थे कि एक मार्क्सवादी समूह गठित हो जो इस बात की पड़ताल करे कि क्रान्ति की सारी अनुकूल स्थितियों के बावजूद 1919 की क्रान्ति क्यों विफल हो गई, और भविष्य में क्रान्ति की सफलता के लिए क्या किया जाना चाहिए ।** पिता ने पुत्र की इस योजना के लिए 'एनडॉउमेण्ट (स्थायी निधि)' के रूप में धन का प्रबन्ध कर दिया । इस प्रकार, 22 जून, 1924 को फ्रैंकफुर्ट में 'इंस्टीट्युट फॉर सोशल रिसर्च' की स्थापना की गई । इसके पहले निदेशक थे वियेना विश्वविद्यालय में कानून तथा राजनीतिक विज्ञान के प्रोफेसर **कार्ल ग्रुनबर्ग** । श्रमिक आन्दोलन तथा समाजवाद के इतिहास के वे जाने-माने विद्वान थे । ग्रुनबर्ग के बाद समाजविज्ञानी और दार्शनिक **फ्रेडरिख़ पोलोक** (1894-1970) और फिर 1930 में **मैक्स होर्खाइमर** (1895-1973) इसके निर्देशक बने ।

इस संस्थान ने शीघ्र ही तत्कालीन यूरोपीय बौद्धिक जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली - अनेक विचारक, दार्शनिक इस संस्थान से जुड़ गये । प्रत्यक्ष रूप में संस्थान में न होने के बावजूद **वाल्टर बेंजामिन** का इससे घनिष्ठ सम्बन्ध था । **हेनरिक ग्रॉसमैन** (1881-1950), **हर्बर्ट मारकुस** (1898-1979), **एरिक फ्रॉम** (1900-1980), **थियोडोर अदोर्नो** (1903-1969) आदि इस संस्थान के जाने-माने विचारक थे । एरिक फ्रॉम को छोड़कर इस संस्थान से जुड़े लगभग सभी बुद्धिजीवी समृद्ध यहूदी परिवारों से ताल्लुक़ रखते थे और पिताओं के साथ अपने ईडिपल संघर्षों के जरिये उन्होंने अपनी अलग राह चुनी थी । 1920 के दशक में इस संस्थान का मास्को-स्थित **मार्क्स-एंगेल्स संस्थान** से भी घनिष्ठ सम्बन्ध था । आगे चलकर यही संस्थान **फ्रैंकफुर्ट स्कूल** अथवा **क्रिटिकल थ्योरी स्कूल** के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

अपने घोषित लक्ष्य में यह संस्थान कितना सफल हुआ - यह विश्लेषण का अलग विषय है । बहरहाल, उन दिनों पूँजीवाद की सामाजिक-आर्थिक, और खासकर सांस्कृतिक आलोचना में इन विद्वानों ने अपने ढंग से महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

ये लोग तार्किक विश्लेषण के दर्शन, विट्गेन्स्टाइन और उनके 'ट्रैक्टेटस' से भली-भाँति परिचित थे और उसकी बुर्जुआ दर्शन के रूप में आलोचना करते थे । महायुद्ध में वालंटियर के रूप में लुडविग की भागीदारी और उसके पक्ष में दी गई दलीलों के बारे में उनका कहना था कि युद्ध एक विपत्ति के रूप में आया था और हर कीमत पर उसकी अवहेलना की जानी थी - वह कोई उत्तेजक दुस्साहसिक अभियान नहीं था जिसमें भागीदार बनकर कोई अपने मनोबल तथा निजी दर्शन की परीक्षा ले ।

फ्रैंकफुर्ट स्कूल के 'क्रिटिकल थ्योरी' का जोर इतिहास तथा बौद्धिक प्रयासों के आधिकारिक-पूँजीवादी वर्णनों-व्याख्याओं को चुनौती देने और उसकी जगह मौलिक (आलोचनात्मक) चिन्तन पर था । इसकी शुरुआत वैसे तो वाल्टर बेंजामिन ने की थी, परन्तु इसे नाम दिया मैक्स होर्खाइमर ने जब 1930 में वे इसके निर्देशक बने । वे बीसवीं सदी में फलने-फूलनेवाली उन तमाम बौद्धिक प्रवृत्तियों के कटु विरोधी थे जो उनकी नजर में एक विकृत समाज व्यवस्था को बनाये रखने के साधन के रूप में इस्तेमाल किये जाते थे - जैसे, तार्किक प्रत्यक्षवाद, मूल्यविहीन विज्ञान, प्रत्यक्षवादी समाजशास्त्र आदि । अपने दिलचस्प पर्यवेक्षणों, गंभीर अध्ययनों-विश्लेषणों के जरिये वे दिखलाते हैं कि **पूँजीवाद उन्हीं को जिनका वह शोषण करता है, उपभोक्ता सामग्रियों की नित नई सम्मोहक दुनिया में उलझा कर रख देता है - हम भूल जाते हैं कि जीवन जीने के और भी तरीके हो सकते हैं, हम इस सच्चाई को देख नहीं पाते हैं कि हम अपने वस्तुपूजक ध्यानाकर्षण और जबरन जरूरी बना दी गयी नयी-नयी उपभोक्ता-सामग्रियों की उत्तरोत्तर बढ़ती मदहोशी में दरअसल पूँजीवादी व्यवस्था के जाल में बुरी तरह फँस चुके हैं ।**[25]

बहरहाल, 13 मार्च, 1933 को फ्रैंकफुर्ट टाउन हॉल पर नाजियों ने अपना स्वस्तिक झण्डा लहरा दिया और उसी दिन पुलिस ने संस्थान पर ताला जड़ दिया । मैक्स होर्खाइमर समेत पूरा संस्थान 1934 के अन्त में अमेरिका में स्थानान्तरित हो गया जहाँ उसे कोलम्बिया विश्वविद्यालय ने शरण दिया । न्यूयार्क में अब वह प्रवासी फ्रैंकफुर्ट स्कूल 'इंटरनेशनल इन्स्टीट्युट ऑफ सोशल रिसर्च' के नाम से स्थापित हुआ ।

अस्तित्ववाद : इसी समय, 1930 के दशक के आरम्भ में हुसेर्ल के फेनोमेनोलॉजी से प्रेरित अस्तित्ववादी दर्शन भी आकार ले रहा था जिसके मुख्य प्रतिनिधि थे **ज्यां पॉल सार्त्र** और **सिमोन द बोवुआर** । पेरिस इसका मुख्य केन्द्र था । इस दार्शनिक आन्दोलन से भी विभिन्न समय में कई प्रख्यात लेखक, कलाकार, राजनीतिज्ञ आदि जुड़े थे - **मार्टिन हाइडेगर** (1879-1976), **कार्ल जेस्पर्स** (1883-1969) और उनकी पत्नी **गर्त्रुद जेस्पर्स** (1879-1974), **एडिथ स्टाइन** (1891-1942), **रेमण्ड एरों** (1905-1983), **हन्ना अरेंत**

(1906-1976), **इमानुएल लेविनास** (1906-1995), **मॉरिस मर्लो-पोंटी** (1908-1961), फ्रेंच-अल्जीरियन उपन्यासकार, नाटककार, एक्टिविस्ट **अल्बेर कामू** (1913-1960) आदि । बाद में और कई लोग इससे जुड़े - जैसे **फ्रांज फेनों** (1925-1961), ट्युनिसियाई उपन्यासकार, सामाजिक सिद्धान्तकार **अल्बर्ट मेम्मी** आदि ।

इनमें से सिर्फ मार्टिन हाइडेगर ने नाजीवाद के समक्ष घुटने टेक दिए थे । पोलैंड में जन्मी एडिथ स्टाइन हुसेर्ल की सहायक रह चुकी थी, यहूदी धर्म छोड़कर रोमन कैथोलिक नन बन गई थी, फिर भी नाजियों के कोप से बच नहीं सकी और गिरफ्तार होने के बाद ऑउशवित्ज के गैस चैम्बर में मारी गई ।

हुसेर्ल अपने शिष्य हाइडेगर के व्यवहार अत्यन्त निराश थे । लगभग गुमनामी में 1938 में उनका देहान्त हो गया था । उनकी पाण्डुलिपियों को जर्मनी से सुरक्षित बाहर ले जाने में उनकी पत्नी **माल्विन हुसेर्ल** (1860-1950) ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

सैद्धान्तिक मतभेदों के बावजूद अनेक मार्क्सवादी विचारकों तथा राजनीतिज्ञों का अस्तित्ववादी दार्शनिकों और लेखकों के साथ उठना-बैठना चलता रहता था । इस दार्शनिक प्रवृत्ति की कुछ चर्चा हम पहले कर चुके हैं ।

जिन वैचारिक-राजनीतिक घटनाओं के बीच विट्गेन्स्टाइन का जीवन गुजरा था, ऊपर हमने उसकी एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की है । इन घटनाओं के सूत्र उनके जीवन से भी जुड़े थे, लेकिन उसकी चर्चा हम आगे करेंगे । फिलहाल, इस मध्यान्तर के बाद हम पुनः विट्गेन्स्टाइन की तार्किक-गणितीय दुनिया में लौटते हैं ।

5. ईश्वर की दया से वंचित गणित

अभिजात्य अंक नहीं होते । ('ट्रैक्टेटस', 5.453) .. कोई संख्या अभिजात्य नहीं होती । (5.553)

गणितीय सत्य ईश्वर के अस्तित्व से स्वतंत्र है । डेविड हिल्बर्ट (1862-1943)

प्रत्येक धारा के दार्शनिक अपनी धारा को केन्द्र में रखकर दर्शनशास्त्र के इतिहास का अध्ययन करते हैं । भौतिकवादी इतिहास को भौतिकवादी और भाववादी खेमों में बांटकर देखते हैं । इसी तरह अद्वैतवादी अद्वैत और द्वैत के बीच द्वंद्व के रूप में इसका विवेचन करते हैं । तार्किक दर्शन के दर्शनशास्त्री भी

दर्शनशास्त्र के पूरे इतिहास को दो खेमों में बांटकर देखते हैं और फिर इस इतिहास में अपने नये दर्शन को समुचित स्थान पर अवस्थित करने का प्रयास करते हैं ।

तार्किक विश्लेषण के दर्शनशास्त्र के सबसे ख्यातिप्राप्त दार्शनिक बर्ट्रेंड रसेल के अनुसार, '**पाइथागोरस** के समय से ही दार्शनिकों के दो विरोधी खेमे रहे हैं - एक समूह के विचार मुख्यतः गणित से प्रेरणा पाते थे, और दूसरे समूह अनुभवजन्य विज्ञानों से प्रभावित थे । **प्लेटो**, **थॉमस अक्विनास**, **स्पिनोजा**, और **काण्ट** गणितवाली पार्टी में थे, जबकि **दिमोक्रितु**, **अरस्तू**, और **लॉक** से शुरू कर बाद के सभी अनुभववादी विरोधी पार्टी में । हमारे समय में दर्शन की एक नयी शाखा का प्रादर्भाव हुआ है जो गणित के उसूलों से पाइथागोरस के सिद्धान्तों को हटाकर उसे मानवीय निगमनात्मक ज्ञान में दिलचस्पी रखनेवाले अनुभववाद के साथ युक्त करने की दिशा में काम कर रही है । इस शाखा के दार्शनिकों का लक्ष्य अतीत के अधिकांश दार्शनिकों के जितना चौंकानेवाला तो नहीं है, लेकिन उसकी कुछ उपलब्धियाँ वैज्ञानिकों की उपलब्धियों जितनी ही ठोस हैं । इस दर्शन की जड़ें उन गणितज्ञों की उपलब्धियों में हैं जिन्होंने गणित को भ्रान्तियों तथा सतही तर्कों से मुक्त करने का बीड़ा उठाया है ।'[26]

आधुनिक काल में गणित और तर्कशास्त्र की जिस परम्परा से यह तार्किक विश्लेषण का दर्शनशास्त्र खुद को जोड़ता था, उस चर्चा में जाने से पहले मैं यह स्पष्ट कर दूँ कि किसी भी ज्ञानशाखा के इतिहास को इस तरह के विरोधी खेमों में बांटकर देखने की पद्धति ही मुझे मनमानी तथा समस्याग्रस्त लगती है । विचारक और उनके विचार जड़ श्रेणियाँ नहीं होतीं - कम ही ऐसे विचारक मिलेंगे जो अपने कुछ वैचारिक सूत्रों के आजीवन बन्दी होकर रहे और जिनके वैचारिक सूत्र उनके पारिवारिक, सामाजिक, राजनीतिक गतिविधियों का समान रूप से नियमन करते रहे । हर विचारक के जीवन के अनेक आयाम होते हैं और हर आयाम समानान्तर रूप से ताल मिलाकर नहीं चलते - विट्गेन्स्टाइन के अध्ययन में मैंने उपर्युक्त पद्धति को महत्व नहीं दिया है ।

वापस आधुनिक काल में गणित के विकास के प्रश्न पर लौटते हैं जिससे यह नया दर्शन आवयविक रूप से जुड़ा था ।

आरम्भ ही **रूपात्मक तर्कशास्त्र** (फॉरमल लॉजिक) के लिए चुनौतीपूर्ण था । **√–1** (ऋण एक वर्गमूल) के रूप में **काल्पनिक संख्या** गणित में दाखिल हो चुकी थी - सोलहवीं सदी में **जेरोलामो कारडानो** (1501-1576) और बाद में कुछ अन्य गणितज्ञों (खासकर, **लियोनार्ड यूलर,** 1707-1783, और **कार्ल फ्रायडरिख़ गॉस**, 1777-1855) ने गणित में इसका सफलतापूर्वक प्रयोग कर 'नये गणित' का मार्ग प्रशस्त कर दिया । 'यह एक विरोध है कि कोई ऋणात्मक मात्रा किसी चीज का वर्ग हो, क्योंकि किसी भी ऋणात्मक मात्रा को यदि स्वयं उसी से गुणा कर दिया जाए तो उसका फल एक धनात्मक वर्ग होता है । इसलिए ऋण

एक वर्गमूल (√−1) न केवल एक विरोध है, बल्कि एक बेतुका विरोध है । लेकिन फिर भी गणित की सही क्रियाओं का फल आवश्यक रूप से √−1 होता है । और, जरा यह भी सोचिए कि यदि गणित को √−1 का प्रयोग करने की मनाही कर दी जाए तो निम्न अथवा उच्च दोनों प्रकार के गणित का क्या हाल होगा ?'[27]

रूपात्मक तर्कशास्त्र अब तक **युक्लिड** की '**एलीमेण्ट्स**' की अचर, स्थिर, व्यवस्थित दुनिया में विचरण करता था, लेकिन इसी समय गणित में **चर संख्याओं/मात्राओं** के प्रवेश ने शताब्दियों से चली आ रही इस दुनिया में हलचल मचा दी - रूपात्मक तर्क का स्थान **द्वंद्वात्मक तर्कशास्त्र** ने ले लिया । 'चर मात्राओं का प्रयोग करते हुए गणित स्वयं द्वंद्ववाद के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है, और यह बात महत्व से खाली नहीं है कि इस प्रगति का श्रेय एक द्वंद्ववादी दार्शनिक **देकार्ते** (1596-1650) को है ।'[28]

बहरहाल, गणित के क्षेत्र में असली संघर्ष अभी बाकी था । यह आधुनिक दुनिया का संभवतः सबसे लम्बे समय तक चलनेवाला संघर्ष था जिसकी परिणति गणित की एक नयी शाखा '**कैलकुलस**' के जन्म में हुई । यह संघर्ष गणित में **अनन्त रूप से सूक्ष्म संख्याओं/मात्राओं (इनफिनिटिसमल, अत्यणु)** की स्वीकृति को केन्द्र कर चला था । करीब शताब्दी तक चलनेवाले इस यूरोपव्यापी संघर्ष में दोनों पक्षों में बड़े-बड़े नाम थे । गणित की सीमा से आगे जाकर यह संघर्ष आधुनिकता के लिए यूरोप में चलनेवाले सामाजिक संघर्ष में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाला था ।

एक ओर, ईसा से करीब तीन सौ वर्ष पूर्व युक्लिड द्वारा रचित 'द एलीमेण्ट्स' की अचर मात्राओं की स्थिर, सुनिश्चित, व्यवस्थित दुनिया थी, दूसरी ओर चर मात्राओं की, अत्यणुओं की चंचल, अस्थिर, अनिश्चित, अराजक दुनिया ।

एक ओर **जेसुइट्स** थे, **थॉमस हॉब्स** थे, फ्रांस के शाही दरबारी थे, हाइ चर्च एंग्लिकंस थे । दूसरी ओर, **गेलीलियो** (1564-1642) थे, गणितज्ञ और गेलीलियो के शिष्य **बोनावेंचुरा केवेलियेरी** (1598-1647) थे, **इवेंजेलिस्टा टॉरीसेली** (1608-1647) थे, इंगलैंड के **जॉन वालिस** (1616-1703) थे ।

यूरोप **लूथर** के धर्मसुधार आन्दोलन, उस दौरान मची अराजकता, और अनेक छोटे-बड़े युद्धों से गुजर रहा था । जेसुइट इस अराजक स्थिति पर रोमन कैथोलिक चर्च की व्यवस्थित, निरंकुश सत्ता फिर से स्थापित करने में लगे थे - इस अभियान में **उनके शिक्षण-संस्थानों के वैश्विक नेटवर्क** की बड़ी भूमिका थी । संभवतः इतिहास में शैक्षणिक संस्थाओं की सबसे बड़ी श्रृंखला का नियंत्रण जेसुइट्स के हाथों में था जिसकी कैथोलिक धर्म के प्रचार-प्रसार तथा धर्मान्तरण में अहम भूमिका थी । पूर्व में जापान के नागासाकी से पश्चिम में पेरू के लीमा तक जेसुइट कॉलेजों की संख्या 1626 में 446 तथा 1749 में

669 थी । इसके अलावा, सेमिनरियों और स्कूलों की संख्या क्रमशः 100 और 176 थी ।[29] शिक्षण संस्थानों के इतने विशाल नेटवर्क में (सबसे ज्यादा ऐसे संस्थान स्वभावतः यूरोप में ही थे) **अत्यणु गणित की पढ़ाई प्रतिबन्धित थी** । यूरोप के शाही घराने के सदस्य, अभिजात्य वर्ग के बच्चे, सभी उन्हीं स्कूलों में पढ़ते थे । सम्राट फर्डिनांड द्वितीय, रेने देकार्ते आदि सभी जेसुइट कॉलेजों के ही स्नातक थे । (देकार्ते की शिक्षा-दीक्षा फ्रांस में जेसुइट्स के सर्वश्रेष्ठ कॉलेज में हुई थी, हालांकि बाद में अपनी किताब में उन्होंने लिखा कि यूरोप के सर्वश्रेष्ठ जेसुइट कॉलेज में हासिल सारा ज्ञान उन्हें निरर्थक प्रतीत हुआ ।)[30]

बहरहाल, लम्बे संघर्ष के बाद युक्लिड के गणित पर अत्यणु के गणित की जीत हुई । '**ईश्वर ने ज्यामिति के शाश्वत नियमों के जरिये पदार्थों की अराजक दुनिया पर जो व्यवस्था थोप रखी थी, वह व्यवस्था एकबारगी ध्वस्त हो गई ।**'[31]

जब से चर परिणामों का प्रयोग होने लगा है और उनकी विचरणशीलता का अतिमहत् और अत्यणु तक विस्तार हो गया है, तब से गणित जिसका आचरण साधारणतया अत्यधिक नीतिसंगत हुआ करता था, ईश्वर की दया से वंचित हो गया है । उसने ज्ञान-प्राप्ति के वृक्ष का फल चख लिया है, जिससे एक ओर उसके सामने विराट उपलब्धियों के द्वार खुल गये हैं, किन्तु उसके साथ-साथ दूसरी ओर, भूलों का मार्ग भी खुल गया है । निरपेक्ष सप्रमाणता और गणित की प्रत्येक बात की अकाट्य प्रामाणिकता की अछूती अवस्था का सदा के लिए अन्त हो गया है; वाद-विवाद का युग आरम्भ हो गया है । फ्रेडरिख़ एंगेल्स, 'ड्युहरिंग मत-खण्डन' ।[32]

इस जीत के परिणामस्वरूप गणित की एक नई शाखा कैलकुलस (कलन) का जन्म हुआ - लगभग एक ही समय में इंगलैंड में **इसाक न्यूटन** (1643-1727), और जर्मनी में **गॉटफ्राइड विल्हेल्म लाइबनीज़** (1646-1716) ने इसकी नींव रखी । न्यूटन ने अत्यणुओं के अपने प्रयोगों के जरिये वैसे तो 1665 में ही कैलकुलस की तकनीक विकसित कर ली थी, लेकिन 1687 में प्रकाशित अपनी '**प्रिंसिपिया मैथेमैटिका**' में ही उन्होंने इस पद्धति को पहली बार प्रस्तुत किया । दूसरी ओर, लाइबनीज़ ने कैलकुलस की अपनी प्रणाली 1675 में विकसित की और न्यूटन के प्रकाशन के तीन वर्ष पहले 1684 में '**इक्टा इरुडिटोरियम**' पत्रिका में कैलकुलस पर अपना पहला विद्वतापूर्ण आलेख प्रकाशित किया ।[33]

कहने की जरूरत नहीं कि इस नये गणित में भी कुछ विसंगतियाँ मौजूद थीं जिनके निराकरण के प्रयासों के जरिये इस गणित को और विकास लाभ करना था ।

बहरहाल, कैलकुलस के विकास ने ज्ञान की अन्य शाखाओं को भी प्रभावित किया - दर्शनशास्त्र, प्रकृति-विज्ञान, यांत्रिकी, अर्थशास्त्र, कोई इससे अछूता न रहा । अर्थशास्त्र का गणितीय स्कूल तो इसी कैलकुलस का परिणाम था । कार्ल मार्क्स खुद लाइबनीज़ के बड़े प्रशंसक थे ।[34]

लाइबनीज़ खुद एक दार्शनिक थे और रसेल के अनुसार, उन्होंने अपनी कुछ दार्शनिक अवधारणाएँ अपने कैलकुलस पर भी आरोपित कर दी थीं । उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में गणितज्ञ **वायरस्ट्रॉस** ने लाइबनीज़ की विसंगतियों से कैलकुलस को मुक्त करने का दावा किया और यह दिखाया कि अत्यणुओं के बिना भी कैलकुलस की स्थापना की जा सकती है । रसेल की नज़र में वायरस्ट्रॉस ने इस तरह कैलकुलस को तार्किक रूप से और सुरक्षित कर दिया । (यहाँ याद दिला दें कि फेनोमेनोलॉजी के प्रवर्तक हुसेर्ल ने वायरस्ट्रॉस से ही गणित और तर्कशास्त्र की शिक्षा ली थी ।) वायरस्ट्रॉस के बाद **जॉर्ज कैंटर** ने निरन्तरता और अनन्तों के अपने सिद्धान्त के जरिये इस परम्परा को आगे बढ़ाया ।

कैंटर के बाद इस गणितीय-तार्किक परम्परा में अगला महत्वपूर्ण नाम **गोट्टलिब फ्रेगे** (1848-1925) का है । फ्रेगे के पहले, रसेल के अनुसार, संख्या की प्रत्येक परिभाषा में प्राथमिक तार्किक भूलें थीं जिसे फ्रेगे ने 1879 तथा 1884 की अपनी रचनाओं में सुधारा और यह दिखाया कि अंकगणित, और शुद्ध गणित भी, और कुछ नहीं निगमन तर्कशास्त्र का महज विस्तार है । फ्रेगे 1903 तक गणित की दुनिया में लगभग गुमनाम ही रहे - रसेल ने ही उनकी ओर ध्यान आकृष्ट कराया । फ्रेगे के काम को आगे बढ़ाते हुए **रसेल** और **व्हाइटहेड** ने '**प्रिंसिपिया मैथेमैटिका**' में तर्कशास्त्र से शुद्ध गणित के विकास का विस्तार से वर्णन किया है ।[35]

यह थी बर्ट्रेंड रसेल के तार्किक विश्लेषण के दर्शनशास्त्र की विकास-यात्रा । **विट्गेन्स्टाइन** की 'ट्रैक्टेटस' इसी दर्शनशास्त्र की विसंगतियों को दूर करने का दावा करती है । इस प्रकार, 'ट्रैक्टेटस' तक की यात्रा को हम निम्नलिखित रूप में व्यक्त कर सकते हैं :

लाइबनीज़ → वायरस्ट्रॉस → जॉर्ज कैंटर → फ्रेगे → बर्ट्रेंड रसेल → विट्गेन्स्टाइन ('ट्रैक्टेटस')

इस प्रकार **विट्गेन्स्टाइन के दर्शन, और खासकर 'ट्रैक्टेटस' का सबसे प्रमुख स्रोत यही तार्किक-गणितीय परम्परा थी ।**

यह बिल्कुल स्वाभाविक है कि जो लोग इस तार्किक-गणितीय परम्परा से परिचित नहीं हैं, तर्कशास्त्र तथा गणित के सिद्धान्तों, शब्दावलियों एवं समीकरणों से अवगत नहीं हैं, उन्हें 'ट्रैक्टेटस' काफी दुरूह लगेगा या समझ में नहीं आएगा । ठीक उसी तरह जैसे आप अगर साहित्य के विद्यार्थी के समक्ष बिना किसी संदर्भ और व्याख्या के इंजीनियरिंग की किताब रख दें तो उसे समझना उसके लिए संभव नहीं होगा - यहाँ तक कि संदर्भ और व्याख्या के बाद भी वह उसे समझने में काफी कठिनाई महसूस करेगा ।

इसलिए विट्गेन्स्टाइन ने 'ट्रैक्टेटस' के प्राक्कथन के पहले पैराग्राफ में ही यह स्पष्ट कर दिया है, 'संभवतः इस पुस्तक को सिर्फ वही समझ पाएगा जिसने पहले से ही इसमें अभिव्यक्त विचारों या कम-

से-कम उनसे मिलते-जुलते विचारों पर मनन किया हो । इसलिए यह कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं है । इसको पढ़कर समझनेवाले किसी एक व्यक्ति को भी यदि यह पुस्तक आनन्द प्रदान करे तो यह अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल हो जाएगी ।'

दार्शनिक विचारों के (और किसी भी ज्ञान-शाखा के विचारों के) विकास का क्रम कुछ इस प्रकार होता है - नया दार्शनिक अथवा विचारक अपने पूर्ववर्ती दार्शनिक या विचारक (खासकर जिसका वह अनुसरण करता है) के विचारों में मौजूद विसंगति अथवा अपूर्णता की शिनाख़्त करता है और उस विसंगति अथवा भूल को सुधारने के जरिये अपनी कुछ नयी प्रस्थापनाओं के साथ उपस्थित होता है - उसकी यह नयी प्रस्थापना ही खुद उसकी अपनी पहचान का प्रतीक बन जाती है । फिर उस प्रस्थापना या उन प्रस्थापनाओं के इर्द-गिर्द उसके विचारों की अपनी नयी दुनिया आकार लेती है । उस दार्शनिक को लगता है कि उसने **दर्शनशास्त्र** में जो विसंगति और भूल थी, उसका समाधान कर दिया है और अब कुछ करने को नहीं रह गया है । दार्शनिक विचारों के इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे-पड़े हैं, और ऐसे दावे शब्दशः अनेक दार्शनिकों की रचनाओं में मिल जाएँगे । दुनिया के बारे में हमारा ज्ञान **सही** है या **गलत**, सही और गलत के निर्धारण का पैमाना एवं तरीका क्या होगा, जैसे प्रश्नों से शुरू करते हुए इन दार्शनिकों को ऐसा महसूस होता है कि उनका पूर्ववर्ती ज्ञान अथवा उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों द्वारा सुझाए गये विचार (तथा पद्धति) नाकाफ़ी हैं, समस्याग्रस्त हैं, जीवन और समाज के समक्ष उत्पन्न नयी चुनौतियों का जवाब देने में वे असमर्थ हैं । देकार्ते को कॉलेज में हासिल सारा ज्ञान निरर्थक लगा, आठ वर्षों तक वे गाँवों में घूमते रहे, एकान्त में चिन्तन-मनन करते रहे । गाँवों में घूमते और किसानों-कारीगरों के साथ बातचीत में उन्हें लगा कि कॉलेज में हासिल ज्ञान की तुलना में गाँव के लोगों के साथ संवाद ज्यादा ज्ञानवर्धक रहा - अलग-अलग क्षेत्रों में भ्रमण से प्रकृति तथा समाज के बारे में दृष्टि और अनुभव का विस्तार हुआ । काण्ट को देकार्ते के विचारों में असंगति दिखायी दी और हेगेल को काण्ट के विचारों में । विट्गेन्स्टाइन की तरह ही **इमानुएल काण्ट** (1724-1804) ने 'द क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन' के पहले संस्करण की भूमिका में लिखा, 'मैं यह दावे के साथ कह सकता हूँ कि एक भी ऐसी आधिभौतिक समस्या नहीं है जिसका यहाँ (इस किताब में) समाधान प्रस्तुत नहीं किया गया है, अथवा कम-से-कम उसके समाधान की कुंजी यहाँ नहीं दी गई है ।' दूसरे संस्करण की भूमिका में तो उन्होंने अपनी तुलना **कॉपरनिकस** से करते हुए कहा कि उन्होंने दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में कॉपरनिकन क्रान्ति को अंजाम दिया है ।[36] कुछ इसी तरह का दावा विट्गेन्स्टाइन अपने प्राक्कथन में करते हैं, '.. मैं समझता हूँ कि समस्त महत्वपूर्ण विषयों और समस्याओं का मुझे समुचित निदान मिल गया है ।'

यहाँ खुद रसेल को उद्धृत करना अप्रासंगिक नहीं होगा : 'तार्किक विश्लेषण के दर्शनशास्त्र के लिए सामग्री पदार्थ-विज्ञान और शुद्ध गणित ने जुटाई । सापेक्षता का सिद्धान्त और क्वांटम यांत्रिकी इसका

खास जरिया बने । .. बहरहाल, क्वांटम सिद्धान्त से तालमेल बिठानेवाला दर्शनशास्त्र अब भी पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हुआ है । भौतिकशास्त्र जहाँ एक ओर भूत की भौतिकता का क्षरण कर रहा है, वहीं मनोविज्ञान मन की मानसिकता का । .. आधुनिक विश्लेषणात्मक अनुभववाद .. लॉक, बर्कले और ह्यूम के अनुभववाद से इस मामले में भिन्न है कि इसने गणित को अपना लिया है और एक मजबूत तार्किक तकनीक विकसित कर ली है । यह अब कुछ खास सवालों के सुनिश्चित जवाब हासिल करने में समर्थ है, जो दर्शनशास्त्र की तुलना में विज्ञान का गुण है । एक पूरी प्रणाली की रचना करनेवाले दर्शनों की तुलना में इसका एक लाभ यह है कि एक-एक समय में यह एक-एक समस्या को हाथ में लेने में सक्षम है, इसे एक ही झटके में समूचे ब्रहमाण्ड के एकमुस्त सिद्धान्त का आविष्कार करने की जरूरत नहीं पड़ती । इस लिहाज से इसकी पद्धति विज्ञान की पद्धति से मेल खाती है । .. समूचे इतिहास में दर्शनशास्त्र के दो हिस्से रहे हैं और इन दोनों के बीच सामञ्जस्य का अभाव रहा है - एक हिस्सा विश्व की प्रकृति के बारे में रहा है, और दूसरा हिस्सा जीने के सर्वश्रेष्ठ तरीके के रूप में नैतिक अथवा राजनीतिक सिद्धान्तों के बारे में । पर्याप्त स्पष्टता के साथ इन दोनों हिस्सों को पृथक करने में विफलता भ्रमपूर्ण चिन्तन का बड़ा स्रोत रही है । प्लेटो से लेकर विलियम जेम्स तक, सभी दार्शनिकों ने विश्व की संरचना के बारे में अपने विचारों को नैतिक उन्नति की अपनी आकांक्षा से प्रभावित होने दिया । .. जहाँ तक मेरा सवाल है नैतिक और बौद्धिक दोनों आधारों पर मैं इस तरह की प्रवृत्ति को अनुचित मानता हूँ । नैतिक रूप से कोई भी दार्शनिक अगर सत्य की निष्पक्ष खोज से इतर किसी भी चीज के लिए अपनी पेशेवर योग्यता का उपयोग करता है, तो वह एक तरह के विश्वासघात का दोषी है । .. सच्चा दार्शनिक **तमाम** पूर्व धारणाओं की समीक्षा के लिए तैयार रहता है । जब कभी सचेत या अचेत रूप से सत्य की खोज पर किसी भी तरह की बंदिश लगाई जाती है, तब दर्शनशास्त्र भय से पंगु हो जाता है, और 'खतरनाक विचार' रखनेवाले लोगों को दंडित करने के लिए सरकारी सेंसरशिप की जमीन तैयार हो जाती है - दरअसल, दार्शनिकों ने अपने ऊपर खुद इस तरह की सेंसरशिप लगा रखी है । मैं यह नहीं कहता कि हमारे पास तमाम प्राचीन सवालों का निश्चित जवाब तत्काल हाजिर है, लेकिन मैं यह जरूर कहूँगा कि एक ऐसी पद्धति खोज ली गई है जिसके जरिये हम विज्ञान की तरह, सत्य के ज्यादा करीब पहुँच सकते हैं, और जिसमें हर नया स्तर बीते हुए का नकार नहीं, बल्कि उसमें सुधार का परिणाम होता है । ..'[37]

'ट्रैक्टेटस' में विट्गेन्स्टाइन तार्किक-गणितीय पद्धति का अनुसरण करते हुए फ्रेगे-रसेल की प्रस्थापनाओं में निहित असंगतियों को उजागर करते हैं, उनमें सुधार करते हैं और इस क्रम में अपनी कुछ मौलिक प्रतिज्ञप्तियों का प्रवर्तन करते हैं - इस प्रकार 'ट्रैक्टेटस' में फ्रेगे-रसेल की आलोचनात्मक समीक्षा के जरिये वे उनकी छत्रछाया से (उनके प्रति आभार प्रकट करते हुए) बाहर निकल आते हैं । **यह एक ही साथ स्वीकार भी है और नकार भी, साथ का आभार भी है और विदाई का संकेत भी, ऋणी होने का भाव भी है और ऋण-मुक्ति की संतुष्टि भी** । अपने निजी जीवन में भी वे कुछ वर्षों के लिए दर्शनशास्त्र से छुट्टी

ले लेते हैं । समस्त महत्वपूर्ण विषयों और समस्याओं का निदान उन्हें मिल गया था, और दर्शनशास्त्र में करने को कुछ खास नहीं रह गया था ।

विट्गेन्स्टाइन की प्रतिभा को देखते हुए रसेल को उनसे काफी उम्मीदें थीं - उन्हें विश्वास था कि वे **तार्किक परमाणुवाद** को नई ऊँचाई प्रदान करेंगे । लेकिन 'ट्रैक्टेटस' की कुछ प्रस्थापनाओं को लेकर उनको गहरी आशंकाएँ थीं और आगे भी वे उनके रहस्यवाद तथा 'गैर-गम्भीर' विषयों में अभिरुचि से चिंतित थे । दोनों के बीच दूरी निरन्तर बढ़ती गई । फ्रेगे के रुख़ के बारे में हम पहले जिक्र कर चुके हैं । इन सबके बावजूद फ्रेगे और रसेल के प्रति विट्गेन्स्टाइन की श्रद्धा बनी रही और उनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध भी ।

अनेक दार्शनिकों और विचारकों को अपने जीवनकाल में ही अपने पूर्व के दावों की - सभी समस्याओं का निदान ढूँढ़ लेने के दावों की - निरर्थकता का अहसास हो जाता है, और इस भ्रांति से मुक्त होकर वे आगे बढ़ जाते हैं । वियेना सर्कल, रैमसे और **पियेरो स्राफा** समेत अपने अन्य मित्रों के साथ बातचीत से विट्गेन्स्टाइन को 'ट्रैक्टेटस', खासकर चित्र-सिद्धान्त की सीमाओं का आभास हो गया था । आगे अपने ही कतिपय निष्कर्षों के प्रति संशयात्मक रुख़ बढ़ता ही गया । वैसे तार्किक-गणितीय भाषा विकसित करने और भाषा की समीक्षा में उनकी दिलचस्पी आगे भी बनी रही ।

मृत्यु के समय विट्गेन्स्टाइन करीब 20,000 पृष्ठों की अप्रकाशित सामग्री छोड़ गये थे और अपनी वसीयत में **रश रीस**, **मिस एन्सकोम्बे** और **प्रोफेसर वॉन राइट** को उसके प्रकाशन की जिम्मेवारी सौंप गये थे । उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति '**फ़िलोसॉफ़िकल इनेवेस्टिगेशन्स**' 'ट्रैक्टेटस' के 31 साल बाद उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई । इन तीस वर्षों में उनके विचारों में काफी परिवर्तन आ चुका था । 'ट्रैक्टेटस' की तरह 'इन्वेस्टिगेशन्स' में भी सूत्र हैं , लेकिन सूत्रों से ज्यादा प्रश्न हैं - कुल 784 प्रश्न जिनमें से मात्र 110 के जवाब दिये गये हैं । इन 110 जवाबों में भी 70 जवाब गलत हैं और ऐसा उन्होंने जान-बूझ कर किया है । भाषा की समीक्षा उन्हें यथार्थ जीवन में उसके बहुविध उपयोग की पड़ताल की ओर ले गई और उन्होंने (हाव-भाव-भंगिमा समेत) विभिन्न रूपों में खेले जानेवाले **भाषाई खेलों** की एक पूरी सूची तक बना डाली ।[38]

'इनवेस्टिगेशन्स' पर काम करते हुए ही उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि 'कोई चाहे तो इस किताब को पाठ्यपुस्तक कह सकता है, लेकिन यह ज्ञान देनेवाली कोई पाठ्यपुस्तक नहीं, बल्कि चिन्तन को उद्वेलित करनेवाली पाठ्यपुस्तक है ।' वे अब तार्किक परमाणुवाद से काफी आगे निकल गये थे ।

पारिवारिक-सामाजिक जीवन में, शॉपिंग करते, कार्यस्थलों में, कक्षाओं तथा बोर्डरूम में, हम सभी भाषा के इस खेल में शामिल होते हैं - अपनी 'बॉडी-लैंग्वेज', अपनी भाव-भंगिमाओं के साथ । चुनावी घोषणापत्रों

तथा तकरीरों में, राजनीतिक-आर्थिक प्रभुत्व के लिए प्रतिद्वंद्विता में वैश्विक शक्तियों के बीच होनेवाली वार्ताओं में भी हम अनवरत् चलनेवाले इस भाषाई खेल का साक्षात् कर सकते हैं । **भाषा के इस खेल को समझे बिना भाषा का अर्थ समझा नहीं जा सकता** - 'फेक न्यूज' और 'पोस्ट-ट्रुथ' से आक्रांत इस दुनिया में भाषा के इस खेल की समझ कितनी जरूरी है, यह बताने की जरूरत नहीं ।

भाषा, विट्गेन्स्टाइन ने एक बार कहा था, **राहों की भूलभुलैया है जिसमें दिशाभ्रम का शिकार होकर लोग प्रायः खो जाते हैं, बिना यह जाने कि उन्होंने अपना कितना बड़ा नुकसान कर लिया है ।**[39]

यह खेल बड़ा पुराना है । प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में ऐसे ओजस्वी वक्ता प्रशिक्षित किये जाते थे जिनका काम अपने नगर-राज्यों के शासकों के हित में जनसमुदाय को गोलबंद करना था - सबसे सफल वक्ता वह जो अपनी ओजस्वी वक्तृता-कला से, अपनी भाव-भंगिमा से, अपने जुमलों से, आँसू बहाकर या रोष प्रकट कर, झूठ-अफवाह के जरिये उत्तेजना फैलाकर, जनता को इस कदर सम्मोहित कर दे कि श्रोता सभा से उठकर सीधे शत्रु नगर-राज्य की सीमा पर युद्ध के लिए प्रस्थान कर जायें । ऐसे वक्ताओं की काफी मांग होती थी, और शत्रु-राज्यों के शासक भी धन का लालच देकर उन्हें खरीदने की कोशिश करते । ऐसे ओजस्वी वक्ता (ओरेटर-डेमेगॉग) चुनाव लड़कर काउंसिलर भी बन जाते थे । **प्लुटार्क** ने एथेंस के एक ऐसे ही विख्यात वक्ता **देमोस्थेनीज** की जीवनी लिखी है, जिन्होंने पहले मेसिडोनिया के राजा **फिलिप** (अलेक्जेंडर के पिता) के संभावित आक्रमण के खिलाफ यूनान के नगर-गणतंत्रों को एकजुट करने की कोशिश की थी । उनकी वक्तृता-कला की चर्चा दूर-दूर तक फैली थी । फिलिप भी उनसे मिलना चाहते थे और ईरान के राजा ने भी उन्हें चिट्ठी लिखी थी । बाद में उनपर विरोधी पक्षों से सोना लेकर उनके भाषण लिखने का आरोप लगा, उनपर मुकदमा चला, एथेंस से निर्वासन की सजा मिली, माफी भी मिली, लेकिन अन्त में बदनामी (और अपने शत्रुओं के भय) के बीच उन्होंने मिनर्वा के मंदिर में ज़हर खाकर आत्महत्या कर ली । प्लुटार्क उनकी वक्तृता-कला की प्रशंसा करते हैं, **सिसेरो** से उनकी तुलना भी करते हैं, लेकिन उन्हें 'मरसीनरी ओरेटर' (भाड़े का वक्ता) भी कहते हैं ।[40]

आज भाषा का खेल यहाँ तक जा पहुँचा है कि दुनिया के सबसे समृद्ध और शक्तिशाली देश के राष्ट्रपति एक समाचार चैनेल के एंकर को बॉक्सिंग रिंग के बाहर पटककर घूँसे लगाते (और ट्विटर पर उनके फॉलोअर्स अपने नायक के कृत्य पर गर्वान्वित होते) देखे जा सकते हैं ।

महाभारत तो भाषा के खेल के विवरणों की खान है । कुरुक्षेत्र के मैदान में चल रहे भीषण युद्ध के बीच युधिष्ठिर का ऊँचे स्वर में कहा गया 'अश्वत्थामा हतो', और फिर मंद स्वर में कहा गया 'नरो वा कुंजरो' का प्रसंग ही अभी के लिए काफी है ।

भाषा के खेल में दैहिक भाव-भंगिमा के साथ जो कहा जा रहा है, उसका **निहितार्थ** जाने बिना, खेल में शामिल शक्तियों का **मक़सद** समझे बिना हम भाषा के इस खेल के बस निष्क्रिय दर्शक अथवा अनजाने भागीदार बन कर रह जाते हैं । नित नई और जबरन थोप दी गई उपभोक्ता सामग्रियों के सम्मोहक संसार में उलझा कर संवाद तथा संचार के साधनों पर नियंत्रण करनेवाले भाषा के वर्चस्वशाली खिलाड़ी लोगों को इस खेल का **अर्थ** जानने की फुरसत ही नहीं देते और वे अनजाने ही इस खेल के मोहरे अथवा भागीदार बन जाते हैं - उन्हें यह पता भी नहीं चलता कि उन्होंने अपना कितना बड़ा नुकसान कर लिया है ।

वैसे भाषा के छोटे-मोटे खेल हम बचपन से ही खेलते आ रहे हैं (लेकिन वे खेल उस कपटपूर्ण, जघन्य और विध्वंसक खेलों की श्रेणी में नहीं आते जो समाज तथा दुनिया के बड़े फलक पर प्रभुत्वशाली शक्तियाँ खेलती आ रही हैं और जिनका हमने ऊपर कुछ विवरण दिया है) । याद कीजिए बचपन में अपने स्कूल के दिन । कक्षा में शिक्षक प्राधिकार की भूमिका में होते हैं, और बच्चे तरह-तरह से इस प्राधिकार को चुनौती देते रहते हैं - बहाने बनाकर, शिक्षक के पीठ पीछे उनकी नकल उतारकर, प्रत्येक शिक्षक को दिलचस्प उपनामों से विभूषित कर । प्राथमिक पाठशाला में बच्चों को पढ़ाते समय विट्गेन्स्टाइन को इस खेल का अनुभव हो चुका था - बच्चों की 'शरारत' से तंग आकर एक बार उन्होंने एक बच्चे पर गुस्से में हाथ चला दिया था । बाद में उनको इसका काफी अफ़सोस भी हुआ । इसके पहले कि स्कूल प्रबंधन उन पर कोई कार्रवाई करता, उन्होंने खुद इस्तीफा सौंप दिया । स्कूल छोड़ने की असली वज़ह यही थी ।

भाषा के खेल की इस संक्षिप्त चर्चा के बाद वापस तार्किक परमाणुओं की दुनिया में लौटते हैं ।

भौतिक जगत में परमाणु का बिखंडन हो चुका था - भला **तार्किक परमाणु** (लॉजिकल एटम) कब तक साबुत बचे रहते ? निरपेक्ष, स्वयंप्रमाण, एकाकी मूल प्रतिज्ञप्तियों (तार्किक परमाणुओं) का, और उन तार्किक परमाणुओं की बुनियाद पर खड़ी की गई इमारत का बिखंडन तय था ।

प्रतिज्ञप्ति यथार्थता का चित्रण है । (4.01) .. प्रतिज्ञप्ति का पूर्ण विश्लेषण मात्र एक ही हो सकता है । (3.25) .. प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति स्वयं अपनी ही सत्यात्मक फलनक होती है । (5)

विट्गेन्स्टाइन को इसका आभास हो गया था कि वे अपनी मूल प्रतिज्ञप्तियों के साकल्य के जरिये जिस दुनिया अथवा जीवन को चित्रित अथवा प्रतिबिम्बित कर **दिखाने** की कोशिश कर रहे थे, वह संसार और जीवन इतना विविध है, उसके इतने आयाम हैं कि उसे किसी सिद्धान्त की सीमा में बांधा नहीं जा सकता है । भाषा के भी अनेक उपयोग हैं, और संसार के निष्क्रिय चित्रांकन तक ही उसकी भूमिका सीमित नहीं की जा सकती ।

हम किसी चीज को दो बार नहीं देखते और न ही दिखाते हैं - दिखाने के क्रम में वह वस्तु भी बदल जाती है । इस तरह, मूल प्रतिज्ञप्तियों की निरपेक्षता, उनकी स्वयंप्रमाणता संदिग्ध हो जाती है - सापेक्ष अर्थ में ही (जैन दर्शन की शब्दावली में कहें तो, अनेकान्तवादी/स्यादवादी अर्थ में ही) उनका वज़ूद कायम रह सकता है । लेकिन **अनेकान्तवादी/स्यादवादी पद के साथ मूल प्रतिज्ञप्ति तार्किक परमाणुओं के रूप में मूल प्रतिज्ञप्ति का मृत्यु-लेख है** ।

इतना ही नहीं, भाषा की तार्किक संरचना में मूल प्रतिज्ञप्ति तक आकर ठहरा नहीं जा सकता । यह मनमाना सीमांकन है, तार्किक रूप से भी असंगत सीमान्त । प्रतिज्ञप्ति का शब्दों में और शब्दों का ध्वनियों में विघटन स्वाभाविक प्रक्रिया है - यह **भाषा की दुनिया से संगीत के संसार में कदम रखना है** । भाषा की सीमा का निदान संगीत के असीम विस्तार में है । इस प्रकार विट्गेन्स्टाइन के लिए, **भाषा का विघटन संगीत का उद्घाटन है** । भाषा का वैभव भी संगीत के धरातल से देखने पर ही खुलता है ।

6. सुर की संगति

भाषाओं का जहाँ अन्त होता है, संगीत की भाषा वहीं से शुरू होती है । रैनर मारिया रिल्के ।

तमाम कलाएँ संगीत की अवस्था को प्राप्त करने की आकांक्षा रखती हैं, शायद इसलिए कि संगीत में रूप ही अर्थ होता है । .. अगर हम इस वक्तव्य को स्वीकार करते हैं तो कविता एक मिश्रित कला है - अमूर्त प्रतीकों के समूह यानी भाषा को संगीतात्मक लक्ष्यों के अधीन लाने की कला । .. भाषा की जड़ें तर्कातीत हैं, जादुई चरित्र की हैं .. कविता उसी आदिम तिलिस्म में वापस लौटना चाहती है । .. बोर्हेस ।[41]

जीवन के अन्तिम दिनों में विट्गेन्स्टाइन ने अपने छात्र और मित्र **मॉरिस ड्रुरी** से कहा था, 'मेरी जिन्दगी में संगीत कितना मानी रखता है, इसके बारे में अपनी किताब में एक शब्द कहना भी मेरे लिए असंभव है । फिर मैं कैसे आशा करूँ कि कोई मुझे समझ पाएगा ?'

संगीत विट्गेन्स्टाइन के दर्शन का तीसरा स्रोत था । उनके दर्शन की प्रकट रूप में प्रमुख धारा तार्किक-गणितीय दर्शन की परम्परा थी, लेकिन अप्रकट रूप में, अन्तर्धाराओं के रूप में, आद्य-अस्तित्ववाद और संगीत उसके महत्वपूर्ण संघटक अंग थे । इन अन्तर्धाराओं की छवियाँ न सिर्फ प्रकट धारा पर स्पष्टतः देखी जा सकती हैं, बल्कि इन अन्तर्धाराओं की समझ के बिना विट्गेन्स्टाइन के जीवन और दर्शन को भी समझना नामुमकिन है । गौर से देखिए तो 'ट्रैक्टेटस' की पूरी संरचना एक संगीत-रचना की तरह

दिखेगी - 7 प्रमुख सूत्रों के इर्द-गिर्द 526 उपसूत्रों तथा सहायक सूत्रों की श्रृंखला में आप म्युजिकल नोट्स के आरोह-अवरोह की, एक संनादी स्वरानुक्रम की सजावट लक्षित कर सकते हैं । सूत्र 4.013, 4.014 और 4.0141 में आप इसका कुछ आभास पा सकते हैं । कविताओं तथा साहित्यिक कृतियों के बारे में अपनी टिप्पणियों में विट्गेन्स्टाइन उसकी संगीतात्मकता पर, उसके टोन पर खास ध्यान देते थे - वे यह देखना चाहते थे कि कोई रचना संगीतात्मकता की कसौटी पर कितना खरा उतरती है, संगीत के स्पर्श की उसकी लालसा रचना में किस रूप में अभिव्यक्त हुई है ।

दर्शनशास्त्र को काव्य-रचना के रूप में लिखा जाना चाहिए । विट्गेन्स्टाइन । रे मोंक, 'हाउ टू रीड विट्गेन्स्टाइन' में उद्धृत ।

भाषा की शीशे की दीवार धो-पोछ कर साफ कर दी गई थी - संसार का चित्र अब साफ-साफ दिख रहा था । लेकिन तार्किक-गणितीय शीशे की दीवार पर अब भी कुछ था जो मिटा नहीं था - यह संगीत संकेतनों के चिह्न थे जो **प्रतीयमान अनियमितताओं** से विकृत नहीं हुए थे । संसार इन चिह्नों में प्रतिध्वनित हो रहा था, भाषा की मध्यस्थता के बिना । उसकी ध्वनि-तरंगों में, उसके आरोह-अवरोहों में, उसकी मंद-मद्धिम-उच्च आलापों में संसार की धड़कन, उसका कम्पन साफ-साफ सुनाई दे रहा था ।

संगीत के प्रति लुडविग के प्रेम का स्रोत उनकी माँ थीं - कालमुस दक्ष पियानोवादिका थी और उन्होंने ही अपने बच्चों में संगीत के प्रति गहन अनुराग की नींव रखी थी । अपने भाइयों और बहनों की तरह लुडविग पियानो तो नहीं बजाते थे, लेकिन संगीत ध्वनियों तथा सुरों से इतने परिचित तो हो ही गये थे कि पियानो की संगति में या उसके बिना पूरी की पूरी सिम्फनी सीटियों के जरिये सुना सकते थे । उनके घर पर तब वियेना के जाने-माने संगीतकारों का आना-जाना होता रहता था । **जोहान्स ब्राम्ज़** (1833-1897) का जब देहान्त हुआ तब विट्गेन्स्टाइन बस आठ वर्ष के थे, लेकिन ब्राम्ज़ के संगीत का प्रभाव उन पर वर्षों तक रहा । **गुस्ताव मालेर** (1860-1911) के संगीत से तो वे भली-भाँति परिचित थे ही, हालांकि उनके संगीत को वे बेकार मानते थे ।

1931 की डायरी में उन्होंने लिखा, 'बदलाव के लिए जब परवर्ती महान संगीतकार **सहज संनादी स्वरानुक्रम** की रचना कर रहे होते तो यह दरअसल अपनी आदिजननी के प्रति निष्ठा प्रकट करने का उनका अपना तरीका होता ।'

विट्गेन्स्टाइन ने बिखरे हुए रूप में ही सही संगीत तथा संगीतकारों पर काफी कुछ लिखा है और इस मामले में उनकी अपनी अनेक मौलिक प्रस्थापनाएँ हैं, जिनके विस्तार में यहाँ जाना संभव नहीं है । उन्होंने **मेंडेलशोम**, **बाख़**, **वेग्नर**, **शूमन**, **शूबर्ट**, **ब्राम्ज़**, **ब्रुकनर**, **मालेर** सभी पर लिखा है, उनकी संगीत-रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन किया है । लेकिन उनके आराध्य थे वे प्रतिभाशाली संगीतकार जो द्रष्टा

नहीं पूर्वद्रष्टा थे, वक्ता नहीं पूर्ववक्ता थे, ज्ञानी नहीं पूर्वज्ञानी थे, जो भविष्यवाणी की विस्मृत भाषा में रचना करते थे, और इसलिए जो ईश्वर की सच्ची संतान थे : **मोजार्ट और बीठोफेन** ।[42] वेग्नर तथा ब्राम्ज़ उनकी नजर में बीठोफेन का अनुकरण तो करते हैं, लेकिन जो बीठोफेन में **दिव्य** (कॉस्मिक) है, वह इन दोनों में **मर्त्य** (अर्थली) बन जाता है । बीसवीं सदी के संगीत को वे 18वीं और 19वीं सदी के महान संगीतकारों द्वारा विपुल मात्रा में छोड़े गये फुटनोट्स का महज विकास मानते थे ।

संगीत, उनकी नज़र में, किसी संस्कृति की पराकाष्ठा है, तमाम कलाओं में सबसे परिष्कृत कला । मॉरिस ड्रुरी ने लिखा है कि विट्गेन्स्टाइन को ध्यान से देखने से ही कोई समझ सकता था कि उनकी जिन्दगी में संगीत का कितना गहरा और केन्द्रीय महत्व है । .. 'वे प्रायः **शॉपेनहॉएर** का ये कथन उद्धृत करते थे कि **दुनिया की अन्तर्निहित प्रकृति संगीत में ही अभिव्यक्त होती है ।** संगीत जीवन का सर्वोच्च रूप है ।' वे संगीत रचना के समय संगीतकार की दैहिक भाव-भंगिमा पर भी खास ध्यान देते थे - 'हर महान कला के अन्तरतम में एक वन्य-प्राणी सक्रिय होता है, लेकिन वशीभूत वन्य-प्राणी ।'

बहरहाल, बीसवीं सदी के संगीत को वे निकृष्ट कोटि का संगीत मानते थे - एक पतनशील पश्चिमी सभ्यता की अभिव्यक्ति । वे **स्पेंग्लर** की 'द डिक्लाइन ऑफ द वेस्ट' से काफी प्रभावित थे - उनकी दृष्टि में यूरोप तथा अमेरिका की आत्मा को संरक्षित करनेवाली संस्कृति अब दिवालिया हो चुकी थी और इस दिवालिया सभ्यता में जो संगीत आकार ले रहा था, वह इसी दिवालियेपन की अभिव्यक्ति और उसकी सर्वोच्च उपलब्धि थी । यूरोपीय शास्त्रीय संगीत के उदात्त पक्ष को निष्कासित कर, संगीत की समष्टिगत संरचना व्यक्ति के निजी मनोरंजन और क्षणिक इच्छापूर्ति की संकीर्ण, मिलावटी शोर की दुनिया में अधोपतित हो रही थी । विट्गेन्स्टाइन को सबसे अधिक चिढ़ इस बात से थी कि **सुर-संगति का उत्तरोत्तर ह्रास हो रहा था और सुर-भाषा संकटग्रस्त हो गई थी** - आधुनिक संगीत, खासकर मालेर के संगीत, को वे इसलिए बर्दाश्त नहीं कर पाते थे ।[43]

विट्गेन्स्टाइन की दार्शनिक सूक्तियों से कुछ संगीतकार संगीत-रचना के लिए भी प्रेरित हुए । **स्टीवी राइख़** की 'म्युजिक फॉर एटीन म्युजिसियंस' संगीतात्मक भाषाई खेल पर ध्यान के रूप में लिया जा सकता है । उन्हीं की एक रचना '**एक्सप्लेनेशंस कम टु एन एण्ड समव्हेयर**' 'फ़िलोसॉफ़िकल इनवेस्टीगेशंस' में प्रयुक्त एक सूत्र 'एक्सप्लेनेशंस कम टु एन एण्ड समव्हेयर' (व्याख्याओं का आख़िर कहीं-न-कहीं अन्त तो होता ही है) का संगीतमय रूपान्तर है । 'संगीतकार के नोट्स' में स्टीवी (अपनी संगीत-रचना '**प्रोवर्व**' के लिए लिखे गये नोट्स के अन्त में) लिखते हैं कि उनके संक्षिप्त पाठ की प्रेरणा भी उन्हें विट्गेन्स्टाइन की रचना '**कल्चर एण्ड वैल्यू**' की एक पंक्ति से मिली - '**हाउ स्मॉल ए थॉट इट टेक्स टु फील ए होल लाइफ**' (पूरी जिन्दगी के शून्य को भरने के लिए बस एक जरा सा विचार ही काफी है) । विट्गेन्स्टाइन की अधिकांश रचनाएँ अपने स्वर और संक्षेपण में मुहावरे (प्रोवर्व) जैसी ही हैं ।

उपर्युक्त पंक्तिवाले अनुच्छेद में विट्गेन्स्टाइन आगे लिखते हैं, 'अगर आप गहराई में जाना चाहें तो आप को ज्यादा दूर सफ़र करने की जरूरत नहीं पड़ेगी ।'[44]

विट्गेन्स्टाइन के दर्शन से प्रभावित कुछ बेहतरीन फिल्में भी बनी हैं - 'फुटलाइट परेड' (1933), 'मेशेज ऑफ द ऑफ्टरनून' (1943), 'पेरिस बिलोंग्स टु अस' (1961), 'ल नोट्टे' (1961), 'जोर्न्स लेम्मा' (1970), 'द पोस्टमैन' (1994, यह निर्वासन में चिली के प्रख्यात कवि **पाब्लो नेरुदा** के जीवन पर आधारित है), 'माइ विन्नीपेग' (2007), 'यूथ विदाउट यूथ' (2007), 'डॉगटूथ' (2009), 'अंकल बूनमी हू कैन रीकॉल हिज पास्ट लाइव्स' (2010), आदि । विट्गेन्स्टाइन के जीवन और कृतित्व पर आधारित भी कुछ अच्छी फिल्में हैं - 'विट्गेन्स्टाइन ट्रैक्टेटस' (1992), 'विट्गेन्स्टाइन' (1993, **डेरेक जारमैन** द्वारा निर्देशित इस फिल्म के निर्माता **तारिक अली**, **तकाशी असाई** और **बेन गिब्स** थे), 'एम ए नम्मीनेन सिंग्स विट्गेन्स्टाइन' (1993), 'ऐज फ्रॉम एफार' (2013), आदि ।

बहरहाल, विट्गेन्स्टाइन का दर्शन जहाँ एक ओर संगीतकारों तथा फिल्मकारों को प्रेरणा प्रदान कर रहा था, वहीं दूसरी ओर कम्प्यूटर भाषा विकसित करनेवाले वैज्ञानिकों को भी ।

7. मशीन की भाषा

हमें जानना होगा/हम जरूर जानेंगे । डेविड हिल्बर्ट का समाधि लेख (यह एक लातिनी कहावत 'हम नहीं जानते/हम नहीं जान पाएँगे' के प्रतिवादस्वरूप लिखा गया था) ।

संतुलन की एक खास अवस्था में किसी एक चीज का **अतिरिक्त सृजन** संतुलन-भंग को जन्म देता है, फिर यह अतिरिक्त सृजन अपनी एक **अतिरिक्त दुनिया** का निर्माण करता है । पदार्थ के एक अतिरिक्त कण के सृजन ने पदार्थ और प्रति-पदार्थ के संतुलन-भंग को अंजाम दिया और पदार्थों की एक नयी दुनिया का सृजन हुआ हम सब जिसके वासी हैं । संतुलन और संतुलन-भंग की यह क्रिया सृष्टि में अनवरत् चलती रहती है और नयी-नयी दुनियाओं का सृजन भी ।

मनुष्य खुद प्रकृति का एक अतिरिक्त सृजन है जो अतिरिक्त चेतना और उस चेतना की वाहक भाषा के साथ उपस्थित होता है । प्रकृति के इस अतिरिक्त सृजन ने अपनी अतिरिक्त चेतना और भाषा के साथ अपनी एक अतिरिक्त दुनिया का सृजन किया जो हमारी अपनी दुनिया है । मनुष्य की अतिरिक्त चेतना उसकी **आत्म-चेतना** के रूप में प्रकट होती है और इस आत्म-चेतना के साथ **मनुष्य और प्रकृति, मनुष्य**

और बाह्य संसार का द्वैत सामने आता है । मनुष्य के साथ ही प्रकृति और संसार का भी आगमन होता है । फिर तो द्वैत श्रेणियों की, युग्मों की एक पूरी श्रृंखला ही अवतरित होती जाती है । **सामान्यीकरण** और **श्रेणीकरण** का अनवरत् सिलसिला चल पड़ता है । **प्रकृति के साथ, और विभिन्न मानव-जनों की परस्पर (उत्पादक) क्रियाशीलता के बीच मनुष्य की अपनी दुनिया** आकार ग्रहण करती जाती है ।

मनुष्य के रूप में अतिरिक्त सृजन का अंग होने के कारण **भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति अपनी एक स्वायत्त दुनिया रचने की होती है** जो हर मानव-समुदाय में सृष्टि-कथाओं, मिथकों, किस्सों, फंतासियों आदि के रूप में मूर्त रूप ग्रहण करती है । **इसलिए भाषा इन कथाओं से मुक्त नहीं हो सकती - उसे संसार का निष्क्रिय दर्पण बनकर रहना कभी मंजूर नहीं होगा ।** तार्किक-गणितीय भाषा तो मनुष्य की स्वाभाविक भाषा होने से रही । **अगर मनुष्य की भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति किस्सों का प्रणयन है तो फिर तार्किक-गणितीय भाषा किसकी स्वाभाविक भाषा है ?**

मशीन की ।

ये **एलेन तुरिंग** (1912-1954) थे ।

1939 में विट्गेन्स्टाइन ने अपनी कक्षाओं में गणित के बुनियादी सिद्धान्तों पर अपना व्याख्यान केन्द्रित कर रखा था । उनके छात्रों में ही एक थे एलेन तुरिंग जिन्होंने कुछ समय पहले ही गणित में अपनी पीएचडी पूरी की थी । वे तब कैम्ब्रिज के ही किंग्स कॉलेज में फेलो थे । उन्होंने ही एक बार विट्गेन्स्टाइन से पूछा था - 'क्या मशीन सोच सकते हैं ?'

तब विट्गेन्स्टाइन को इस बात का अहसास हुआ कि हम तो पहले से ही मानवेतर प्राणियों तथा चीजों पर अपनी भाषा तथा चिन्तन-शक्ति आरोपित करते रहे हैं - किस्सों में मानवेतर प्राणी मानवों की तरह सोचते और बोलते रहे हैं । खिलौनों में बोलनेवाली गुड़िया या चिड़िया लोकप्रिय रही है । क्या मशीन को भाषा-संपन्न किया जा सकता है? क्या हम मनुष्य के बारे में भी मशीन के रूप में चिन्तन कर सकते हैं ? क्या 'चिन्तन करना' शब्द एक उपकरण (इन्सट्रुमेंट) माना जा सकता है ?

याद रहे वह जमाना कम्प्यूटरों के, कम्प्यूटरों के लिए एक प्रोग्रेमिंग भाषा के विकास का उद्भव काल था और इस दिशा में सक्रिय कुछ वैज्ञानिक-गणितज्ञ विट्गेन्स्टाइन के गणित के बुनियादी सिद्धान्तोंवाले व्याख्यान से तथा तार्किक-गणितीय भाषा विकसित करने की उनकी अवधारणाओं से काफी प्रेरणा पा रहे थे ।[45]

इन्हीं वैज्ञानिकों के सबसे अग्रणी प्रतिनिधि थे अत्यन्त प्रतिभाशाली युवा कम्प्यूटर-विज्ञानी एलेन तूरिंग - उन्हें आज सैद्धान्तिक कम्प्यूटर विज्ञान तथा 'कृत्रिम बुद्धि' का जनक माना जाता है । उनकी '**तूरिंग**

मशीन' आम कम्प्यूटर के मोडेल के रूप में स्वीकृत है, जिसमें उन्होंने '**अलगोरिद्म**' तथा **संगणन** ('कम्प्यूटेशन') की अवधारणाओं को औपचारिक स्वरूप प्रदान किया ।

यहाँ एक बार फिर तार्किक-गणितीय परम्परा पर थोड़ी चर्चा तो बनती है । दरअसल अलगोरिद्म की अवधारणा काफी पुरानी है । यह अँग्रेजी शब्द ही नौवीं सदी के बगदाद के महान अरब गणितज्ञ **मोहम्मद इब्न मूसा अल-ख़्वारिज़्मी** के नाम से बना है (अलज़ेब्रा शब्द भी) । लेकिन आधुनिक अलगोरिद्म की शुरुआत 1928 में बीसवीं सदी के महान गणितज्ञ **डेविड हिल्बर्ट** (1862-1943) द्वारा प्रस्तुत 'डिसीसन प्रोब्लेम' (निर्णय समस्या) का समाधान करने के प्रयासों से हुई । पहले गणितवाली चर्चा में हमने हिल्बर्ट की चर्चा इसलिए नहीं की कि रसेलवाली गणितीय शाखा से उनका मतभेद था - रसेल ने भी अपनी गणितीय परम्परा का ज़िक्र करते हुए उनका नाम नहीं लिया है, इस तथ्य के बावजूद कि हिल्बर्ट भी जॉर्ज कैंटर की 'सेट-थ्योरी' तथा अनन्तों के सिद्धान्त के उत्साही समर्थक थे । वैसे दोनों गणितज्ञ एक-दूसरे का काफी सम्मान करते थे । हिल्बर्ट का गणितज्ञों के बीच काफी मान था, और वे गणितज्ञों के नेता और मार्गदर्शक माने जाते थे । दर्शन के मामले में वे इमानुएल काण्ट से प्रभावित थे ।

हिल्बर्ट द्वारा प्रस्तुत समस्या के समाधान के क्रम में गणित में एक-के-बाद-एक कई नये विकास सामने आते हैं । इसे संक्षेप में इस क्रम से समझा जा सकता है :

हिल्बर्ट द्वारा प्रस्तुत '**निर्णय समस्या**' (**1928**) → **गोडेल-हरब्रांड-क्लीन** का आवर्ती फलनक ('**रिकर्सिव फंक्शन**'; गोडेल वियेना सर्कल से भी अनौपचारिक रूप से जुड़े थे; **1930**, **1934**, **1935**) → **एमिल पोस्ट** का **फॉरमुलेशन 1** (**1936**) → **एलेन तूरिंग** की '**तूरिंग मशीन**' (**1936-7**, **1939**) । इस प्रकार हम फिर तूरिंग पर आ जाते हैं ।

खेद है कि हम डेविड हिल्बर्ट के बारे में यहाँ और चर्चा नहीं कर सकते । लेकिन तूरिंग की थोड़ी चर्चा तो बनती है ।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी के कूट संदेशों को पढ़ने में तूरिंग की निर्णायक भूमिका थी जिसके परिणामस्वरूप नाजियों को, खासकर अटलांटिक युद्ध में, पराजय का सामना करना पड़ा ।

वे समलैंगिक थे और उन दिनों के ब्रिटिश कानून के तहत 1952 में उन पर मुकदमा चला और उन्हें सजा सुनाई गई । 7 जून, 1954 को इस असाधारण प्रतिभा के धनी युवा वैज्ञानिक-गणितज्ञ-कम्प्यूटरविज्ञानी-दार्शनिक-सैद्धान्तिक जीवविज्ञानी ने आत्महत्या कर ली (कुछ लोगों के अनुसार साइनाइड प्वाइजनिंग एक दुर्घटना थी) । तब उनकी 42वीं वर्षगांठ में भी 16 दिन शेष थे । वर्षों बाद ब्रिटिश महारानी ने उनकी सजा को तो (मरणोपरान्त) निरस्त किया ही, इसके लिए क्षमा भी मांगी ।

तूरिंग का जन्म, लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा सब ब्रिटेन में ही हुई, लेकिन माता और पिता दोनों ओर से उनके परिवार का भारत से गहरा रिश्ता था - उनके परदादा बंगाल आर्मी में जनरल थे, और पिता **जुलियस मैथिसन तूरिंग** (1873-1947) इंडियन सिविल सर्विसेज (आइसीएस) के अधिकारी थे और **बिहार-उड़ीसा प्रदेश** के छतरपुर में भी एक वक्त पदस्थापित थे । उनके नाना **एडवर्ड वालर स्टोनी** मद्रास रेलवेज में चीफ जीनियर थे ।

इस तरह जिस तार्किक-गणितीय भाषा की रचना में विट्गेन्स्टाइन लगे थे, उसे आखिरकार अपना ठिकाना मिल गया । लेकिन न विट्गेन्स्टाइन, और न तूरिंग उसके वैश्विक प्रसार और आम जनजीवन में उसके अभूतपूर्व दख़ल के साक्षी बन सके । आज भी वह भाषा हमें समझ में नहीं आती, दुरूह और अजीब लगती है, लेकिन उस कम्प्यूटर प्रोग्रेमिंग भाषा के बिना आपकी दिनचर्या ठप हो जाएगी । आप आज उसी भाषा से चारो ओर घिरे हैं - अपने स्मार्टफोन या कम्प्यूटर पर मेल भेजते, सोशल मीडिया में स्टेटस अपडेट करते, गेम खेलते, जरा अपने लिंक्स या एड्रेस बार पर नज़र डालिये ! इस भाषा के अनेक प्रेरक व्यक्तियों में एक नाम विट्गेन्स्टाइन का भी है ।

डिजिटल युग में, अब सब कुछ, सारा शब्द, सारे वाक्य, सारी किताबें बस डाटा हैं - अँग्रेजी के कैपिटल ए का आठवाँ हिस्सा एक बिट है, आधा निब्ल, और पूरा एक बाइट । एक किताब एक मेगाबाइट (1024 किलोबाइट) है, और सोलह सौ किताबें एक गीगाबाइट (1024 मेगाबाइट) .... इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि वह किताब जादू-टोने की किताब है या ट्रैक्टेटस या आइन्सटीन की सापेक्षता के सिद्धान्त की । सारी सृष्टि-कथाएँ, सारे मिथक, सारे किस्से, सारे चित्र अब बस डाटा हैं । आपकी सारी सूचनाएँ, सारी गतिविधियाँ, सारे आंगिक हावभाव - सब कुछ दुनिया भर में फैले अमेजन, गूगल, माइक्रोसॉफ्ट, फेसबुक, एपल आदि के लाखों सर्वरों में न मालूम कितने पेटाबाइट या एक्साबाइट डाटा के रूप में अनवरत् जमा होता जा रहा है (सिर्फ अमेजन के ही चौदह लाख से ज्यादा सर्वर हैं) । समय-समय पर इन सर्वरों की अभेद्य दीवारें भी भेदी जाती रही हैं - और वह भी कम्प्यूटर प्रोग्रेमिंग भाषा के जरिये ही ।

इस डिजिटल मायालोक में भ्रमण करता कौतुक के पर्वत का सैलानी क्या 'सोचता' या उसका 'दिल' क्या कहता ? चलिए इस सैलानी के दिल की कुछ थाह लेते हैं और उनकी जीवनी के उन पन्नों को पलटते हैं जिन्हें पहले मैंने बुकमार्क रखकर बन्द कर दिया था ।

8. दिल से ....

आम तौर पर विट्गेन्स्टाइन की जो छवि है वह दुनियावी मामलों से कटे, अपनी तार्किक-गणितीय दुनिया में खोये रहनेवाले अराजनीतिक, और यहाँ तक कि एक अभिजात्य-अनुदारवादी दार्शनिक की है (अनेक प्रगतिशील हल्कों में भी यही बात है) । अब हम जो विवरण देने जा रहे हैं, वह उनकी अनेक जीवनियों में नहीं मिलेगी या फिर आधे-अधूरे रूप में मिलेगी । यह सही है कि वे सामाजिक-राजनीतिक जीवन में उतने सक्रिय नहीं रहे, कि अपनी युवावस्था में प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान उनमें जर्मन राष्ट्रवादी भावनाएँ थीं, वे एक जर्मन के रूप में जर्मनी की हार से व्यथित थे, कि उन्हें लगता था कि जर्मनों की तुलना में इंगलिश श्रेष्ठ जाति थी आदि । लेकिन शीघ्र ही वे किसी भी जातीय-नस्लीय मूलवाद (रेसियल इसेंसियलिज़्म) के सख़्त ख़िलाफ़ हो गये और अन्त तक नस्लीय मूलवाद, नस्लीय प्रोफाइलिंग तथा नस्ल-जाति-आधारित रूढ़-छवि-निर्माण के कट्टर विरोधी बने रहे । (प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान जहाँ वे वालंटियर के रूप में युद्ध के मोर्चे पर तैनात थे, वहीं उनके शिक्षक बर्ट्रेंड रसेल अपने शान्तिवादी अभियान के कारण जेल में थे) ।

यहाँ हम 1930 से मृत्युपर्यन्त उनकी सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों का एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे जिससे उनके दिल की थाह लेने में आपको आसानी होगी । 1929 में कैम्ब्रिज आने के साथ ही वे जिनके साथ ठहरे, वे और कोई नहीं बल्कि मार्क्सवादी अर्थशास्त्री, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में व्याख्याता, ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य तथा कैम्ब्रिज कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक-सदस्य **मॉरिस डॉब** थे । डॉब के साथ उनकी घनिष्ठता अन्त तक बनी रही । कैम्ब्रिज में उनके अनेक मित्र कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़े अथवा उसके सदस्य रहे मार्क्सवादी बुद्धिजीवी थे ।

विट्गेन्स्टाइन ने 'फ़िलोसॉफ़िकल इनवेस्टिगेशंस' की भूमिका में अपने सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारों के उत्प्रेरक के रूप में जिनके साथ विचार-विमर्श को श्रेय दिया है, वे थे **पियेरो स्राफा**, एक मार्क्सवादी अर्थशास्त्री । स्राफा इतालवी कम्युनिस्ट पार्टी के नेता **अंटोनियो ग्राम्शी** के घनिष्ठ मित्र थे । ग्राम्शी रसेल की कुछ प्रस्थापनाओं, खासकर दिक्-सम्बन्धों के अस्तित्व (जैसे पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण) की प्रस्थापना की आलोचना कर चुके थे और संभवतः यह आलोचना स्राफा के माध्यम से ग्राम्शी और विट्गेन्स्टाइन के बीच एक सेतु का निर्माण करती थी । **अमर्त्य सेन** स्राफा के छात्र और मित्र रह चुके थे और अपने एक लेख में उन्होंने ग्राम्शी-स्राफा-विट्गेन्स्टाइन कड़ी की जांच-पड़ताल की है ।[46] विट्गेन्स्टाइन के परवर्ती दार्शनिक विचारों पर स्राफा का प्रभाव एक सर्वमान्य तथ्य है । उनके विचारों में **तार्किक से मानवशास्त्रीय दृष्टि की ओर जो झुकाव** दिखायी देता, उसका मुख्य श्रेय स्राफा को ही जाता है ।

पूर्ववर्ती विट्गेन्स्टाइन की तर्कशास्त्रीय दृष्टि से उत्तरवर्ती विट्गेन्स्टाइन की मानवशास्त्रीय दृष्टि में संक्रमण का बौद्धिक क्रम कुछ इस तरह बनता है : फॉयरबॉख → मार्क्स → ग्राम्शी → स्राफा । इस मंडली में भाषाविद् **निकोलाई बाख़्तीन** (जो पहले तो गृहयुद्ध के दौरान प्रतिक्रान्तिकारी श्वेत सेना में

शामिल थे, लेकिन बाद में मार्क्सवादी हो गये थे), **जॉर्ज थॉमसन**, विट्गेन्स्टाइन की (रूसी भाषा की) शिक्षिका **फैनिया पास्कल**, उनके पति कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य **रॉय पास्कल** आदि शामिल थे। निकोलाई के भाई प्रख्यात साहित्यशास्त्री **मिख़ाइल बाख़्तीन** का विट्गेन्स्टाइन ने 'फ़िलोसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस' की भूमिका में बिना नाम लिये जिक्र किया है। बाख़्तीन, थॉमसन और पास्कल परिवार 1930 के दशक के अन्त में बर्मिंघम चले गये थे, लेकिन विट्गेन्स्टाइन अक्सर उनसे मिलने वहाँ जाते रहते थे।

वरिष्ठ मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के अलावा विट्गेन्स्टाइन की मित्र-मंडली में युवा पीढ़ी के कई मार्क्सवादी भी शामिल थे, कुछ तो उनके छात्र ही थे - **जुलियन बेल**, **डेविड हेयडेन-गेस्ट**, **जॉन कोनफोर्ड**, और **मॉरिस कोर्नफोर्थ**। इनमें से कुछ आगे चलकर कम्युनिस्ट आन्दोलन के प्रमुख नाम बने। विट्गेन्स्टाइन के घनिष्ठ दोस्त फ्रांसिस स्किनर, जिनके साथ 1935 में उन्होंने सोवियत संघ जाने की योजना बनायी थी, कम्युनिस्ट आदर्शों से काफी सहानुभूति रखते थे। उनके एक और दोस्त जिन्हें उन्होंने 'फ़िलोसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस' के प्रकाशन की जिम्मेवारी सौंपी थी, रश रीस त्रात्स्कीवादी रह चुके थे।

द्वितीय विश्वयुद्ध शुरु होने के बाद उनके लिए ऑस्ट्रिया का दरवाजा बन्द हो चुका था (हिटलर ने ऑस्ट्रिया का जर्मनी के साथ 'विलय' कर दिया था)। 1939 में उन्होंने ब्रिटिश नागरिकता लेने का निश्चय किया और 1940 से वे ब्रिटिश नागरिक बन गये। 1935 में वे सोवियत संघ की यात्रा कर आये थे - वहाँ उनका अत्यन्त सम्मान तथा गर्मजोशी से स्वागत किया गया था। उन्हें वहाँ सोवियत विश्वविद्यालयों में पढ़ाने का प्रस्ताव भी मिला। सोवियत संघ में घूमने के दौरान वे कुछ चीजों और स्थितियों से असहमत भी थे, लेकिन उन्होंने अपनी सोवियत यात्रा का कोई संस्मरण नहीं लिखा। जब उनसे इसका कारण पूछा गया तो सुनिये उन्होंने क्या कहा - उन्होंने कहा कि **वे नहीं चाहते थे कि उनके नाम तथा उनकी कुछ नकारात्मक टिप्पणियों का सोवियत-विरोधी प्रचार में इस्तेमाल किया जाय**। 1935 में ही ब्रिटेन में सोवियत संघ के राजदूत के नाम पत्र में जॉन मेनार्ड कीन्स ने लिखा था - 'यद्यपि विट्गेन्स्टाइन कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य नहीं हैं, फिर भी उनकी उन आदर्शों तथा जीवन-पद्धति के साथ गहरी सहानुभूति है जिनके प्रति सोवियत सत्ता अपनी आस्था प्रकट करती है।'[47]

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रति उनका दृष्टिकोण ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के दृष्टिकोण से मेल खाता था। नवम्बर 1940 में कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा एक युद्ध-विरोधी छात्र कन्वेंशन आयोजित किया गया। इस कन्वेंशन के समर्थकों में कैम्ब्रिज के बस तीन प्रोफेसरों का नाम था - **उनमें से एक थे लुडविग विट्गेन्स्टाइन** (मॉरिस डॉब का नाम तो था ही)। विट्गेन्स्टाइन के इस रुख़ से कई वाम-समर्थक अथवा प्रगतिशील बुद्धिजीवी (जैसे, **जॉर्ज ऑरवेल** और **विक्टर गोलांज**) भी क्षुब्ध थे - वे युद्ध-प्रयासों में ब्रिटिश सरकार का साथ देने के हिमायती थे। ऐसे कन्वेंशन 1940 और 1941 के दौरान पूरे ब्रिटेन में

आयोजित किये गये थे । इन कन्वेंशनों के सिलसिले का अन्त जनवरी 1941 में लंदन में एक पीपुल्स कन्वेंशन में हुआ । इस कन्वेंशन में रखी गई कुछ मांगें इस प्रकार थीं - जनता के जीवन-स्तर में सुधार और हवाई हमलों की स्थिति में सुरक्षित शेल्टरों की व्यवस्था; जनवादी, नागरिक तथा ट्रेड यूनियन अधिकारों की पुनर्बहाली; आपात्कालीन अधिकारों का उपयोग कर बैंकों, सेवाओं तथा उत्पादन के साधनों का अधिग्रहण; सोवियत संघ के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध तथा जन सरकार की स्थापना; तमाम देशों की जनता के आत्म-निर्णय के अधिकार की मान्यता आदि । जून 1941 में सोवियत संघ पर हिटलर के हमले के बाद ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी के रुख़ में परिवर्तन हुआ और वह फासिस्ट-विरोधी मित्र-राष्ट्रों के मोर्चे के समर्थन में आ गई । विट्गेन्स्टाइन के रुख़ में भी यह परिवर्तन परिलक्षित हुआ । पूरे युद्ध के दौरान वे अस्पताल में घायलों की नियमित देखभाल करते रहे ।

युद्ध के दरम्यान ब्रिटेन में जो अंधराष्ट्रवादी उभार देखा गया, उससे विट्गेन्स्टाइन क्षुब्ध थे - हॉलीवुड फिल्मों के शौकीन विट्गेन्स्टाइन फिल्मों से पहले दिखाये जानेवाले भड़काऊ न्यूज़रील तथा फिल्मों के अन्त में बजाये जानेवाले राष्ट्रगीत से भी गुस्सा थे ।

युद्ध के दौरान उन्होंने एक बार कहा था कि युद्ध समाप्त होने के बाद भी हालात काफी बुरे ही होंगे - अगर नाजी जीतते हैं तो स्थिति अत्यन्त भयावह होगी, और अगर मित्र-राष्ट्र जीतते हैं तब भी बुरी ही होगी । पूँजीवादी सभ्यता के प्रति इससे उनकी दृष्टि का अंदाज़ा लगाया जा सकता है - संगीत के प्रसंग में भी हम यूरोपीय तथा अमेरिकी सभ्यता की पतनशीलता को लेकर उनके विचार का जिक्र कर चुके हैं ।

युद्ध के बाद ब्रिटेन में जो आम चुनाव हुआ, उसमें कई लोगों को ऐसी उम्मीद थी कि वे ब्रिटिश कम्युनिस्ट पार्टी को ही वोट देंगे । लेकिन उन्होंने लेबर पार्टी को वोट दिया - यह कहते हुए कि इस चुनाव में तब मुख्य मुद्दा ब्रिटेन को **चर्चिल** से मुक्ति दिलाना था । उन्होंने अपने मित्रों से भी लेबर पार्टी को वोट देने को कहा था ।

निजी सम्पत्ति तथा निजी भूस्वामित्व के उनके विरोध की भी हम पहले चर्चा कर चुके हैं । वे मार्क्स की 'पूँजी' के प्रथम खण्ड के कई अध्याय पढ़ चुके थे । इतने सारे मार्क्सवादी-कम्युनिस्ट मित्रों के साथ रहते हुए उन्होंने अन्य रचनाएँ भी पढ़ी होंगी । लेनिन की दार्शनिक रचनाओं से भी वे अवगत थे ।

आम धारणा के विपरीत वे दार्शनिक चिन्तन और रोजमर्रे के जीवन को अन्तर्सम्बन्धित मानते थे और दर्शनशास्त्र को जीवन को दिशा देनेवाला एक उद्यम । शारीरिक श्रम की मर्यादा में उनकी गहरी आस्था थी और वे धन अथवा भौतिक सम्पत्ति की मध्यस्था के बिना मनुष्य के भाईचारे के पैरोकार थे । अपने संस्मरण में **रॉलैंड हट** लिखते हैं कि विट्गेन्स्टाइन ने एक बार खुद अपने को '**दिल से कम्युनिस्ट**' कहा था ।[48]

इन विवरणों के बाद मुझे और कुछ नहीं कहना । अब तो मौन ही श्रेयस्कर है ।

9. हिन्दी में 'ट्रैक्टेटस'

एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद को विट्गेन्स्टाइन भाषा के खेलों की सूची में शामिल करते हैं । मूल लेखक और उसकी रचना यहाँ प्राधिकार की भूमिका में होती है । विश्व की विभिन्न भाषाओं में रचित श्रेष्ठ रचनाएँ अनूदित होने से इंकार कर देती हैं - वे अपनी **अद्वितीयता**, अपना **विशिष्ट सौंदर्य** खोना नहीं चाहतीं । इसलिए महान रचनाकार अपनी रचनाओं के अनुवाद अथवा अन्य कला-माध्यमों में उनके रूपान्तर से प्रायः असंतुष्ट ही रहते हैं, यहाँ तक कि नाराज़ भी ।

हर भाषाई समुदाय को विरासत में एक भाषा-परम्परा प्राप्त होती है - कथाओं, कथाओं के वाचन, वाचन के साथ अंग-संचालन तथा दैहिक भंगिमाओं की एक पूरी दुनिया, एक पूरा-का-पूरा ध्वनि-संसार । **रचनाएँ इसी ध्वनि-संसार में अवस्थित होती हैं ।** समाजों के बीच अन्तर्सम्पर्कों के कारण इस ध्वनि-संसार में बहुत कुछ साझा भी है, लेकिन अलग-अलग भाषाओं की पहचान इन साझा प्रवर्गों से नहीं, बल्कि भिन्नताओं से होती है ।

अनुवादक के सामने चुनौती यह होती है कि वह रचना की अद्वितीयता को पूरा सम्मान देते हुए एक भाषा-संसार से दूसरे भाषा-संसार में उसके कायान्तरण के जरिये उस **एक को दो** में, **अ-द्वैत को द्वैत** में बदल दे और उस रचना को अपनी भाषा के विशिष्ट सौंदर्य से मंडित कर दे । अनुवाद रचना का और अनुवादक रचनाकार की भूमिका में आ खड़ा होता है । अनुवाद की यह चुनौतीपूर्ण क्रिया अनवरत् चलती रहती है । कृति प्रायः दुबारा नहीं लिखी जाती, लेकिन अनुवाद के साथ यह बाध्यता नहीं होती । मूल कृति बार-बार अनूदित होती रहती है ।

विट्गेन्स्टाइन ने एक जगह लिखा है, 'जिसे वस्तुतः विचारों का प्रवाह होना चाहिए, एक किताब अथवा एक लेख उसे जड़ीभूत कर देता है ।' अनुवादों का जीवंत प्रवाह जड़ीभूत मूल कृति को अपनी जड़ता से मुक्त कर देता है । **एक** अद्वितीय कृति का **अनेक** अनुवादों में पुनर्जन्म होता रहता है । अनुवादक के रूप में रचनाकार का भी अलग-अलग भाषा-संसार में अवतार होता रहता है ।

इस प्रकार अनुवादक-रचनाकार के समक्ष एक कठिन चुनौती होती है और इस चुनौती पर कम ही खरे उतर पाते हैं । मूल लेखक अनुवाद के स्पर्श से अपनी रचना को निष्कलुष रखना चाहता है, वहीं अनुवादक अपनी भाषा में रचनाकार के स्पर्श का सुख पाना चाहता है ।

हर समाज में दार्शनिक साहित्य की अपनी एक परम्परा होती है और अपनी दार्शनिक शब्दावलियों का समूह भी । जनजातीय सृष्टि-कथाओं तथा लोक-साहित्य में जो जीवन-दर्शन है उसे तो कथावाचक अथवा नर्तक-नर्तकियों के अंग संचालन अथवा दैहिक भाव-भंगिमाओं को देखे-सुने बिना ग्रहण करना मुश्किल है - सुनना-देखना समझने की एक शर्त के रूप में उपस्थित होता है । अपने देश में पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध, आजीवक, लोकायत, अद्वैत-द्वैत-द्वैताद्वैत-विशिष्टाद्वैत, सूफी आदि दर्शनों की एक लम्बी परम्परा रही है । इन दर्शनों की कई शाखाएँ-उपशाखाएँ हैं और सभी की अपनी-अपनी विशिष्ट शब्दावलियाँ भी । सूफी दर्शन की विभिन्न शाखाओं की शब्दावलियों के तार अरब दार्शनिक साहित्य से - इब्न रोश्द, इब्न सीना, अल-ग़ज़ाली, इब्न खाल्दून, आदि से जुड़ते हैं । इसी तरह आधुनिक यूरोपीय तार्किक-गणितीय ज्ञान की पृष्ठभूमि में चीन-भारत-ईरान-यूनान-रोम-अरब की लम्बी तार्किक-गणितीय परम्परा रही है और उसके अनेक पद और शब्द इसी पृष्ठभूमि से लिये गये हैं । इस यूरेशियाई भूखण्ड के अनेक स्थल तथा समुद्री मार्गों-उपमार्गों पर सदियों से सौदागरों, साम्राज्य की सेनाओं, संतों-फकीरों, यात्रियों की टोलियों की आवाजाही होती रही है और इन क्षेत्रों के बीच ज्ञान का आदान-प्रदान भी । अनुवादकों को शब्दावलियों के इसी महासमुद्र से अपने काम का समानार्थक शब्द ढूँढ़ कर निकालना होता है । आप अंदाजा लगा सकते हैं कि यह कितना श्रम-साध्य कार्य है ।

एक शब्द का अर्थ अलग सांस्कृतिक परिवेश में भिन्न अर्थ ग्रहण कर लेता है । 'विज्ञान' - पश्चिम में इस शब्द का जो सामान्य अर्थ ('साइंस') है, वह उपनिषद और बौद्ध दर्शन में इसके अर्थ ('चेतना') से बिल्कुल भिन्न है । 'फ़िलोसॉफ़ी' - यह मूल यूनानी शब्द लैटिन से होते हुए अँग्रेजी में दाखिल हुआ, इसका शाब्दिक अर्थ 'प्रज्ञा-प्रेम' ('लव ऑफ विजडम') है, और इसका निहितार्थ संसार, जीवन, समाज, भाषा आदि के तात्विक ज्ञान से है । 'दर्शन' का ध्वन्यार्थ इससे भिन्न है - ज्ञान यहाँ 'देखा' जाता है । विट्गेन्स्टाइन को भी 'देखना' शब्द खासा प्रिय था । ऐसे कितने ही उदाहरण दिए जा सकते हैं ।

'ट्रैक्टेटस' का अनुवाद किसी भी अनुवादक के लिए एक कठिन चुनौती है । हिन्दी अनुवाद की इस कठिन चुनौती को स्वीकार करने और इसे बखूबी निबाह ले जाने के लिए **श्री अशोक वोहरा** को बधाई - और इसी के बहाने विट्गेन्स्टाइन के बारे में इतना कुछ लिख जाने का मुझे मौका देने के लिए भी ।

करीब पच्चीस वर्ष पहले मुझे 'ट्रैक्टेटस' का एक हिन्दी अनुवाद देखने-पढ़ने का अवसर मिला था (साथ में डेविड ह्यूम, काण्ट आदि की रचनाओं के अनुवाद का भी) । वह संभवतः राजस्थान या मध्यप्रदेश हिन्दी

अकादमी का प्रकाशन था - अब न वह किताब मेरे पास है और न ही उसकी कोई खास स्मृति । इसलिए दोनों अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने की स्थिति में मैं नहीं हूँ ।

श्री अशोक वोहरा का अनुवाद अच्छा है - उन्होंने इस बात का खास ख़्याल रखा है कि अनुवाद में अँग्रेजी वाक्य-विन्यास का अनुसरण करने की जगह हिन्दी के वाक्य-विन्यास में बातें रखी जाएँ । कई बार देखा जाता है कि अँग्रेजी वाक्य-विन्यास का हू-ब-हू अनुसरण करने के क्रम में अनुवाद बोझिल और अटपटा हो जाता है । हिन्दी में भाषा का सहज प्रवाह बनाये रखने के लिए अनेक अवसरों पर यह जरूरी हो जाता है कि अँग्रेजी के एक लम्बे वाक्य को दो-तीन छोटे वाक्यों में बांट कर लिखा जाए । ऐसा करने के क्रम में कई बार गड़बड़ी भी हो जाती है - गड़बड़ी यह कि मूल लेखक जिस बात को सम्प्रेषित करना अथवा जिस पर जोर देना चाहता है, कहीं वही बात महत्व न खो बैठे या फिर वह ठीक से सम्प्रेषित ही न हो पाए । वोहराजी के अनुवाद में यह सहज प्रवाह बना रहता है । दार्शनिक शब्दावली में भी उन्होंने यह कोशिश की है कि भारतीय तार्किक-गणितीय परम्परा में उपलब्ध समानार्थी अथवा मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग किया जाए, और अपनी ओर से अनावश्यक शब्द गढ़ने से बचा जाए । यह श्रम-साध्य प्रक्रिया है जिसका 'अनुवादकीय' में उन्होंने जिक्र किया है और उनका यह सराहनीय श्रम पुस्तक में परिलक्षित होता है । अँग्रेजी 'प्रोपोजीशन' के लिए आम तौर हम 'प्रस्थापना' का प्रयोग करते हैं, लेकिन भारतीय तार्किक साहित्य में 'प्रतिज्ञा' (और इसी 'प्रतिज्ञा' से 'प्रतिज्ञप्ति') एक प्रचलित पद है (पञ्चावयवयुक्त अनुमानवाक्य के पाँच अवयव हैं - प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनयन और निगमन) ।

अनुवाद पर कुछ टिप्पणियाँ जिनसे लेखक का सहमत होना जरूरी नहीं है:

1. पृष्ठ 39; 1.12: 'द केस' और 'नोट द केस' के लिए क्रमशः 'सत्' और 'असत्' का प्रयोग मेरे विचार से सही नही है । इन शब्दों के लिए अनुवादक 1.21 और 2 में 'अस्तित्व' और 'अनस्तित्व' तथा ('द केस' के लिए) 'जो कुछ भी है' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो सही है । इसलिए 1.12 का अनुवाद यह होना चाहिए: 'क्योंकि तथ्यों की समग्रता ही क्या कुछ है, और यह भी कि क्या कुछ नहीं है, इसका निर्धारण करती है ।'

हमारी चिन्तन परम्परा में 'सत्' और 'असत्' का जो ध्वन्यार्थ है, वह विट्गेन्स्टाइन की नज़र में दर्शनशास्त्र का विषय ही नहीं है । वह तो अनिर्वचनीय, मौन का विषय है ।

विट्गेन्स्टाइन का 'ट्रु' और 'फॉल्स' हमारे दैनिक व्यवहार में, गणित तथा तर्कशास्त्र में प्रयोग होनेवाले 'सही' और 'गलत', 'टिक' (v) या 'क्रॉस' (X) चिह्न के समकक्ष है । पूरी किताब में 'सत्यात्मक' और 'असत्यात्मक' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है और इस पर मुझे कोई आपत्ति नहीं है । जाहिर है, यहाँ सत् या सत्य ऋग्वेद के नासदीय सूक्त (आरम्भ में न सत् था न असत्) वाला या फिर 'सत्यम्

शिवम् सुन्दरम्', 'सत्यमेव जयते', 'सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म', 'असतो मा सदगमय', आदि वाला सत्य नहीं है; यह अँग्रेजी में कैपिटल टी (T) से शुरू होनेवाला 'ट्रुथ' भी नहीं ।

एक दो जगह छोड़कर शेष किताब में भी 'सत्' और 'असत्' का प्रयोग नहीं किया गया है ।

2. पृष्ठ 42; 2.024, 2.025, 2.027 में 'सब्सटैंस' के लिए 'द्रव्य' की जगह 'तत्त्व' शब्द ही ज्यादा उपयुक्त है । 2.021 और 2.0211 में अनुवादक ने इसी शब्द (तत्त्व) का प्रयोग किया है । 2.027 तथा 2.0271 में 'सत्' की जगह 'अस्तित्वमान तत्त्व' होना चाहिए । 2.0271 में ही 'अस्थायी' की जगह 'अस्थिर' ही ठीक रहेगा ।

3. पृष्ठ 56; 4.026 का दूसरा वाक्य; यह वाक्य इस प्रकार होना चाहिए: 'बहरहाल, प्रतिज्ञप्तियों की सहायता से हम अपना अभिप्राय स्पष्ट कर पाते हैं ।'

4. पृष्ठ 57; 4.032: लैटिन 'एम्बुलो' (अँग्रेजी 'एम्बल') का आशय 'चलने' से है और इसी में उपसर्ग और प्रत्यय लगाकर कई शब्द बनते हैं; जैसे, 'एम्बुलेंस', 'प्रिएम्बल', 'पेराम्बुलेटर' आदि । 'प्रहार' की जगह इसी चलने से मिलता-जुलता हिन्दी शब्द दिया जाना चाहिए । 'चल' से ही कई शब्द बनते हैं ।

5. पृष्ठ 57; 4.04: हर्ट्ज के 'मैकेनिक्स' से यहाँ आशय **हायनरिख़ हर्ट्ज** की किताब 'द प्रिसिपल्स ऑफ मैकेनिक्स प्रजेण्टेड इन अ न्यू फॉर्म' से है । यह किताब 1899 में मैकमिलन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, लंदन द्वारा प्रकाशित की गई थी । इसलिए '(हर्ट्ज के यांत्रिक गतिक नमूनों से तुलना कीजिए ।)' की जगह यह लिखा जाना चाहिए '(हर्ट्ज के मैकेनिक्स में वर्णित गतिक नमूनों से तुलना कीजिए ।)' ।

6. पृष्ठ 64; 4.12721 का दूसरा वाक्य इस प्रकार होना चाहिए: 'इसलिए आकारगत प्रत्यय को प्रारंभिक विचार के रूप में एक साथ प्रस्तुत करना असम्भव है ।' इसी के अन्तिम वाक्य का अन्तिम अंश इस प्रकार होना चाहिए: '.... एक साथ प्रारम्भिक विचारों के रूप में प्रस्तुत करना असंभव है, जैसाकि रसेल ने किया है ।'

7. पृष्ठ 71; अन्तिम वाक्य इस प्रकार होना चाहिए: 'पुनरुक्ति और व्याघाती प्रतिज्ञप्तियाँ संकेतों के समुच्चय की परिसीमित स्थितियाँ - वस्तुतः उनका विघटन - होती हैं ।' 'लिमिटिंग' के लिए 'अवच्छेदक' की जगह 'परिसीमित' ही बेहतर होगा । अनुवादक ने एक जगह इस शब्द के लिए 'सीमान्त' का प्रयोग किया है और वह भी 'अवच्छेदक' से बेहतर है ।

8. पृष्ठ 78; 5.24 की अन्तिम पंक्ति में 'साधारण धर्म' की जगह 'साझा' का प्रयोग ही उपयुक्त होगा ।

9. पृष्ठ 79 ; 5.252 की दूसरी पंक्ति में '(रसेल और व्हाइटहेड द्वारा दी गई क्रम-परम्परा' की जगह '.... द्वारा दिए गए क्रम-सोपानों में' हो तो बेहतर । इसी में आगे के वाक्य में ऐसे क्रम की जगह ' .. ऐसे क्रमों की संभावना' होना चाहिए ।

10. पृष्ठ 80 ; 5.3 : छठी-सातवीं पंक्ति में '.. तो प्राथमिक प्रतिज्ञप्ति देनेवाली कोई *एकल* प्रक्रिया भी होती है' की जगह यह होना चाहिए '.. तो हमेशा प्राथमिक प्रतिज्ञप्तियों पर की जानेवाली कोई *एकल* प्रक्रिया भी होती है जो वही परिणाम दे ।'

11. पृष्ठ 80 ; 5.32 की दूसरी पंक्ति में 'सत्यात्मक-प्रक्रियाओं के सीमित आनुक्रमिक प्रयोगों ..' की जगह 'सीमित सत्यात्मक-प्रक्रियाओं के आनुक्रमिक प्रयोगों ..' होगा ।

12. पृष्ठ 86 ; 5.511 ; पंक्ति को इस प्रकार लिखा जाए तो बेहतर होगा : 'तर्कशास्त्र - सर्वग्राही तर्कशास्त्र जो संसार का दर्पण है - ऐसी विलक्षण बुनावटों और कल्पनाओं का प्रयोग कैसे कर सकता है? इसका एकमात्र कारण यह है कि वे सभी अनन्त रूप से सूक्ष्म तंत्र में एक-दूसरे से बँधे हैं - एक विशाल दर्पण की रचना करता तंत्र ।'

13. पृष्ठ 90 ; 5.535 में 'axiom of infinity' के लिए 'अपरिमित-अभिगृहीत' की जगह 'अनन्त की स्वयंसिद्धि' ही मेरी समझ से ठीक होगा । अन्तिम पंक्ति में 'अनेक नामों' की जगह 'अनन्त नामों' होना चाहिए ।

14. पृष्ठ 92 ; 5.552 की अन्तिम दो पंक्तियों में कोष्ठक में दिए गए शब्दों '(तकनीकी सम्बन्धी)' और '(विषय-वस्तु सम्बन्धी)' की जरूरत नहीं है ।

15. पृष्ठ 93 ; 5.556 तथा 5.5561 में 'उच्चावच' की जगह 'सोपानमूलक' देना ही बेहतर होगा ।

16. पृष्ठ 100-101 ; 6.1232 और 6.1233 में 'स्वयंसिद्ध-अपचेयता-सिद्धान्त' की जगह 'स्वयंसिद्ध समानयनता' देना ज्यादा उपयुक्त होगा । 'अपचेयता' रसायनशास्त्र में प्रयुक्त होनेवाला शब्द है, जबकि 'समानयनता' गणित में ।

17. पृष्ठ 102 ; 6.1262 में दूसरी पंक्ति : 'रीतितंत्र' की जगह 'क्रियाविधि' ही ठीक होगा - '.. पहचानने की सहायक क्रियाविधि ही है ।'

18. पृष्ठ 102 ; 6.1264 में प्रूफ के लिए 'उपपत्ति' की जगह 'प्रमाण' का प्रयोग ही ठीक होगा - इसके ठीक पहले 6.1263 में अनुवादक ने 'प्रमाण' शब्द का ही प्रयोग किया है ।

‘मोडस पोनेन्स’ के लिए *विधि-वध्यात्मक हेतुफलानुमान* का प्रयोग किया गया है । प्रतिज्ञप्तिमूलक तर्कशास्त्र में ‘मोडस पोनेन्स’ (लैटिन) अनुमान का एक नियम है जिसे ‘इम्प्लीकेशन एलीमिनेशन’ (अर्थापत्ति विलोपन अथवा उपलक्षण बहिष्करण) कहा जाता है । इसी पुस्तक में इसका विवरण मौजूद है (5.101, 5.5351) - ‘यदि *p* तो *q*’; सरल शब्दों में, प्रतिज्ञप्तिमूलक तर्कशास्त्र में यह नियम है कि ‘यदि *p* तो *q*’ - इस शर्त-आश्रित वक्तव्य को स्वीकार किया जाता है और यदि ‘*p*’ सत्यात्मक है, तो ‘*q*’ भी सत्यात्मक होगा । क्या मोडस पोनेन्स के लिए *शर्त-आश्रित (अथवा आश्रय-सिद्ध) हेतुफलानुमान* लिखा जा सकता है ? (जैसे कोई तालाब में उठती भाप को देखकर यह कहे कि इस तालाब में आग है, तो उसका वह अनुमान *आश्रय-असिद्ध रूप हेत्वाभास* से युक्त होगा । यह वाक्य भी मैंने महाभारत की एक पाद-टिप्पणी से लिया है ।)

19. पृष्ठ 107; 6.361 की दूसरी पंक्ति में ‘कल्पनीय’ की जगह ‘विचारनीय’ अथवा ‘विचार का विषय’ ज्यादा उपयुक्त होगा ।

20. पृष्ठ 109; 6.36111 में ‘डाइमेन्सन्स’ के लिए ‘विम’ की जगह ‘आयाम’ भी लिखा जा सकता है ।

21. पृष्ठ 110; 6.4312 के अन्तिम वाक्य की अन्तिम पंक्ति: ‘अपेक्षित समाधान नहीं है’ की जगह ‘समाधान अपेक्षित नहीं है’ होगा । 6.432, 6.5, 6.51 - इन सभी में ‘रिड्ल’ के लिए ‘समस्या’ की जगह ‘पहेली’ शब्द ही ज्यादा उपयुक्त लगता है ।

22. पृष्ठ 112; 7 : ‘अनभिव्यंग्य’ की जगह ‘जो बात कही नहीं जा सकती’ ही बेहतर है । ‘जो बात कही नहीं जा सकती वहाँ मौन ही श्रेयस्कर है ।’ प्राक्कथन में अनुवादक ने यही लिखा भी है ।

दार्शनिक पदों की शब्दावली किताब के अन्त में जरूर दी जानी चाहिए थी । इस महत्वपूर्ण किताब में यह कमी खलती है । इससे हिन्दी में दर्शनशास्त्र पढ़नेवाले विभिन्न विश्वविद्यालयों के छात्रों को काफी लाभ होता । खासकर यूरोपीय दर्शनशास्त्र के पदों के लिए अलग-अलग अनुवादों में (अनेक मामलों में) अलग-अलग शब्द मिलते हैं और इससे काफी विभ्रम की स्थिति पैदा होती है ।

हिन्दी की किताबों में प्रूफ की गलतियों पर विशेष ध्यान देने की बात अक्सर कही जाती रही है । लेकिन इस मामले में कोई प्रगति दिखायी नहीं देती । इस किताब में भी प्रूफ की कई गलतियाँ हैं जिन्हें शीघ्र सुधारना जरूरी है । सामान्य गलतियों के अलावा कई ऐसी गलतियाँ रह गई हैं जिनसे वाक्य का अर्थ बदल जाता है । इन गलतियों से अनुवादक-लेखक को कितनी पीड़ा होती है, इसे मैं समझ सकता हूँ । यहाँ पूरा शुद्धि-पत्र तो नहीं दिया जा सकता लेकिन कुछ महत्वपूर्ण गलतियों की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा सकता है :

1. आवरण पर अनुवादक का नाम अशोक **बो**हरा है, जबकि अन्दरूनी आवरण, उसके पृष्ठभाग तथा अनुवादकीय में अशोक **वो**हरा। लेखक का अँग्रेजी में जो नाम दिया गया है, उससे पता चलता है कि वोहरा ही सही है। किताब के आवरण पर 'फिलोसॉफ़िकस' है लेकिन अन्दरूनी आवरण तथा पृष्ठ 39 पर शीर्षक में 'फ़िलोसॉफ़िकस'। इसी तरह, मूल पाठ के शीर्षक (पृ. 39) में 'ट्रैक्टेटस' की जगह 'ट्रैक्टेट्स' छपा है। अन्दरूनी आवरण के पृष्ठ भाग में ही अँग्रेजी में 'Western' की जगह 'Weatem' है। भारतीय ज्ञानपीठ के प्रकाशन में इस तरह की भूल की उम्मीद नहीं की जानी चाहिए।

2. पृष्ठ 55; 4.02 की दूसरी पंक्ति: 'जाने' डिलीट होगा। वाक्य इस प्रकार होगा: 'हमारी इस जानकारी का कारण यह है कि प्रतिज्ञप्तिगत प्रतीक का अर्थ बिना किसी व्याख्या के समझा जा सकता है।' इसी तरह, पृ. 60 (4.114) की चौथी पंक्ति में ग्यारहवाँ शब्द 'को' डिलीट होगा। इस वाक्य को इस प्रकार भी लिखा जा सकता है: 'जो विचार का विषय हो सकता है, उसकी परिधि से बाहर निकल कर इस शास्त्र को यह सीमा निर्धारित करनी चाहिए कि विचार का विषय क्या नहीं हो सकता है।'

3. पृष्ठ 63; 4.1272 की पहली पंक्ति: 'अचर' की जगह 'चर' होगा। वैसे मेरे विचार में पूरा वाक्य इस प्रकार लिखा जाना चाहिए: 'अतः चर नाम 'x' छद्म-प्रत्यय *वस्तु* का समुचित चिह्न है।' पृ. 70; 4.4611 की दूसरी पंक्ति में 'गणित' की जगह 'अंकगणित' होगा।

4. पृष्ठ 72; 5.02 की नौवीं पंक्ति: '~*p*' की जगह '*p*' होगा। वाक्य इस प्रकार होगा: '*p*' के अर्थ की पूर्ण जानकारी के बिना '~*p*' के अर्थ को समझा नहीं जा सकता।

इसी की तेरहवीं पंक्ति में 'जुलियस' की जगह 'जुलियन' होगा।

5. पृष्ठ 73; 5.101 में प्रस्तुत आकृतिगण में नौंवी पंक्ति: (FTTF) की जगह (TFFT) होगा।

6. पृष्ठ 74; 5.1311 की चौथी और पाँचवीं पंक्ति में तिर्यक चिह्न(/) की जगह **शेफर्स स्ट्रोक**(|) होगा: '*p/q./.p/q*' की जगह '*p|q.|.p|q*' और '*p/p*' की जगह '*p|p*' तथा कोष्ठक के अन्दर '*p/q*' की जगह '*p|q*' होगा। 1913 में तर्कशास्त्री **हेनरी शेफर** ने इस संकेत (|) का प्रयोग शुरू किया था जिसका मतलब था 'न तो यह और न वह' - 'न *p* और न *q*' को इस तरह दर्शाया जाता है *p|q*। उन्हीं के नाम पर यह संकेत-चिह्न शेफर्स स्ट्रोक कहलाता है।

7. पृष्ठ 86; 5.51 की पहली पंक्ति के पहले संकेत-चिह्न (*N*ξ) में *N* डिलीट होगा, सिर्फ ξ होगा। इसी तरह की कुछ और त्रुटियाँ हैं।

संकेत चिह्नों के बीच स्पेस देने अथवा न देने के मामले में अनेक जगहों पर असावधानी दिखाई देती है । यहाँ उसका विवरण मैं नहीं दे सकता । इसे पृ. 79, 80, 81, 83, 86, 96, 98, 99 आदि पर देखा जा सकता है । तर्कशास्त्र और गणित के संकेत-चिह्नों में इस तरह की असावधानी से इन चिह्नों द्वारा द्योतित अर्थ ही बदल जाते हैं । जहाँ स्पेस नहीं देना है, वहाँ स्पेस देने से एक संकेत-चिह्न दो पृथक चिह्नों में बदल जाता है, और जहाँ स्पेस देना है, वहाँ नहीं देने से दो पृथक चिह्न एक चिह्न में बदल जाता है । वैसे अधिकांश जगहों पर यह ठीक है ।

8. पृ. 96 ; 6.02 की छठी पंक्ति में ‘x,’ के बाद स्पेस होगा (x, Ω’x, Ω’Ω’x, Ω’Ω’Ω’x, ...) । नौवीं पंक्ति के अन्त में ‘,x’ डिलीट होगा : ‘[$\Omega^{0\prime}$x, $\Omega^{v\prime}$x, $\Omega^{v+1\prime}$x]’ ।

9. पृ. 89 ; 5.531 की पहली पंक्ति में *‘f(aa)’* तथा *‘f(bb)’* की जगह *‘f(a,a)’* और *‘f(b,b)’* होगा ।

10. पृ. 89 ; 5.532 की दूसरी पंक्ति के आरम्भ में ‘(∃x.y)’ में ‘.y’ डिलीट होगा ; पूरा चिह्न इस प्रकार होगा : ‘(∃*x*).*f*(*x*,*x*)’ ।

इसी तरह की कुछ और त्रुटियाँ हैं जिनसे वाक्यों, चिह्नों अथवा समीकरणों का अर्थ बदल जाता है ।

यह सुखद है कि श्री वोहरा अनुवाद के क्रम में कोई अनावश्यक प्रयोग करने, अनुवाद में अपनी ओर से कोई छूट लेने से भरसक बचने का प्रयास करते हैं । **वे मूल पाठ पर** (और विट्गेन्स्टाइन पर) **हावी होने की कतई कोशिश नहीं करते - खुद पृष्ठभूमि में रहते हुए मूल पाठ के अनुवाद का आनन्द लेते दिखते हैं ।** कई बार मूल पाठ पर हावी होने के क्रम में कई अनुवादक न सिर्फ अनुवाद के अनासक्त आनंद से खुद वंचित रह जाते हैं, बल्कि पाठकों को भी मूल पाठ के आस्वाद से वंचित कर देते हैं ।

पुस्तक की विशेषता उसकी सादगी है, सादगी की सहज सरसता है । ‘अनुवादकीय’ में अनुवादक ने संक्षेप में विट्गेन्स्टाइन और ‘ट्रैक्टेटस’ का रोचक परिचय तो दिया ही है, अपनी श्रमसाध्य अनुवाद-प्रक्रिया का भी विवरण प्रस्तुत किया है । दर्शनशास्त्र, खासकर विट्गेन्स्टाइन के दर्शन में रुचि रखनेवाले पाठकों तथा विद्यार्थियों के लिए यह एक उपयोगी एवं जरूरी किताब है ।

****

टिप्पणियाँ

[1] विट्गेन्स्टाइन के जीवन तथा कृतित्व से सम्बन्धित बहुत सारी सामग्री अब पब्लिक डोमेन में हैं । उन पर काफी लिखा गया है और ऐसे अनेक लेख, पुस्तक-अंश और पुस्तकें भी ऑनलाइन उपलब्ध हैं । 24,000 पृष्ठों के उनके नोटबुक तथा ड्राफ्ट्स का सीडी-रोम तो है ही, उनका बड़ा हिस्सा http://www.wittgensteinsource.org पर उपलब्ध है । 'ट्रैक्टेटस' और 'फ़िलोसॉफ़िकल इन्वेस्टिगेशंस' के अलावा विट्गेन्स्टाइन की कुछ अन्य रचनाएँ इस प्रकार हैं: 1. 'द ब्लू एण्ड ब्राउन बुक्स'; 2. 'ऑन सर्टेंटी' (1969); 3. 'कल्चर एण्ड वैल्यू' (ब्लैकवेल, 1980); 4. 'रिमार्क्स ऑन द फाउण्डेशंस ऑफ मैथेमेटिक्स' (1956); 5. 'नोटबुक्स: 1914-1916' (ब्लैकवेल, 1979); 6. 'रिमार्क्स ऑन कलर' आदि । उनकी जीवनी पर सबसे चर्चित किताब है रे मोंक की 'लुडविग विट्गेन्स्टाइन: द ड्युटी ऑफ जीनियस', विंटेज, लंदन, 1991 । कुछ अन्य किताबें हैं: रश रीस के सम्पादन में प्रकाशित 'लुडविग विट्गेन्स्टाइन: पर्सनल रीकलेक्शंस', ऑक्सफोर्ड-ब्लैकवेल, 1981 (हरमिन विट्गेन्स्टाइन का संस्मरण 'माइ ब्रदर लुडविग' इसी किताब में संकलित है ; मॉरिस ड्रुरी, रश रीस आदि के संस्मरण भी इसमें संकलित हैं); जेम्स सी क्लैग की 'सिम्पली विट्गेन्स्टाइन' (न्यूयार्क, 2016); ब्रायन मैकगिन्नेस के सम्पादन में प्रकाशित 'विट्गेन्स्टाइन इन कैम्ब्रिज : लेटर्स एण्ड डॉकुमेंट्स 1911-1951' (ऑक्सफोर्ड-ब्लैकवेल, 2008); आदि । दर्शनशास्त्र की अन्य किताबों में भी विट्गेन्स्टाइन से सम्बन्धित सामग्रियाँ मिल जाती हैं ।

इस लेख में अँग्रेजी में 'ट्रैक्टेटस' के संदर्भ इस पुस्तक से लिये गये हैं: विट्गेन्स्टाइन, लुडविग (1974); 'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलोसॉफ़िकस', राउटलेज एण्ड केगान पॉल, लंदन; अनुवादक: डी एफ पियर्स और बी एफ मैकगिन्नेस ।

'ट्रैक्टेटस' के लगभग सभी उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद **श्री अशोक वोहरा** द्वारा अनूदित **'ट्रैक्टेटस लॉजिको-फ़िलोसॉफ़िकस' (भारतीय ज्ञानपीठ, 2016)** से लिया गया है । शेष अँग्रेजी उद्धरणों का हिन्दी अनुवाद लेखक द्वारा किया गया है ।

[2] यह वाक्यांश 'ट्रैक्टेटस' के ध्येय-वाक्य से लिया गया है । अनुवाद श्री अशोक वोहरा का है ।

[3] बॉदेलेअर, चार्ल्स (1919); 'द पोएम्स एण्ड प्रोज पोएम्स ऑफ चार्ल्स बॉदेलेअर', ए पब्लिक डोमेन बुक, ब्रेंतानोज पब्लिशर्स, न्यूयार्क; 'द इनविटेशन टु द वोयेज' (किंडल एडीशन, लोकेशन 1135-36) ।

[4] क्लैग, जेम्स सी (2016); 'सिम्पली विट्गेन्स्टाइन' सिम्पली चार्ली, न्यूयार्क (किंडल एडीशन), में उद्धृत ।

[5] बॉदेलेअर, चार्ल्स (1919); ऊपर वर्णित; 'एवरीमैन हिज कीमेरा', (लोकेशन 1071-1077) ।

[6] बोवुआर, सिमोन द (2004); 'एक गुमशुदा औरत की डायरी', मेरठ, 2004; अनुवाद: ललित कार्तिकेय; 'संध्या-वेला': 73 ।

[7] नारायण, कुँवर (2009); 'वाजश्रवा के बहाने', भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली: 148, 154 ।

[8] महाभारत (1973); प्रथम खण्ड, सभा पर्व के द्युत पर्व में भीष्मवाक्य विषयक उनहत्तरवाँ अध्याय, गीता प्रेस गोरखपुर: 907, श्लोक 15 ।

[9] बेकवेल, सारा (2017); 'एट द एक्जिस्टेंशियलिस्ट कैफे: फ्रीडम बीइंग एण्ड एप्रिकॉट कॉकटेल', विंटेज, लंदन; '9. लाइफ स्टडीज: इन व्हिच एक्जिस्टेंशियलिज़्म इज एप्लाइड टु एक्चुअल पीपल': 218-220 ।

[10] राधाकृष्णन, सर्वपल्ली (1955); 'ईस्ट एण्ड वेस्ट', जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन: 125 ।

[11] क्लैग, जेम्स सी (2016); ऊपर वर्णित ।

[12] छांदोग्य उपनिषद (1983); मूल संस्कृत के साथ अँग्रेजी अनुवाद: स्वामी गंभीरानंद; अद्वैत आश्रम, कोलकाता; अध्याय VII, 1-26: 510-558 । नारद के परिचय में छांदोग्य उपनिषद के साथ-साथ महाभारत में दिए गए परिचय का भी कुछ अंश जोड़ दिया गया है । महाभारत (1973); सभा पर्व के अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्व, पञ्चम अध्याय: 675-6 ।

[13] लेहरर, के और मारेक जे सी (सम्पादन) (1997); 'ऑस्ट्रियन फ़िलोसॉफ़ी: पास्ट एण्ड प्रजेण्ट', बोस्टन स्टडीज इन द फ़िलोसॉफ़ी ऑफ साइंस, खण्ड 190, स्प्रिंगर, डोरड्रेख़ में संकलित जे हिनतिक्का का लेख 'द आइडिया ऑफ फेनोमेनोलॉजी इन विट्गेन्स्टाइन एण्ड हुसेर्ल': 101-123 । इसी लेख में हर्बर्ट स्पाइगेलबर्ग के लेख 'द पजल ऑफ विट्गेन्स्टाइन्स फेनोमेनोलॉजी (1929 -)' का उद्धरण दिया गया है । स्पाइगेलबर्ग का यह लेख 1982 में मार्टिनस निजहॉफ (द हेग) द्वारा प्रकाशित पुस्तक 'द कंटेक्स्ट ऑफ द फेनोमेनोलॉजिकल मूवमेंट' में संकलित है (पृष्ठ: 202-228) ।

[14] मुक्तिबोध, गजानन माधव (1985); मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 2, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली; 'अँधेरे में': 334

[15] क्लैग, जेम्स सी (2016); ऊपर वर्णित । आगे के कुछ विवरण भी इसी किताब से ।

[16] वही ।

[17] बेनफे, क्रिस्टोफर (2017); 'द मिस्टीरियस म्यूजिक ऑफ जॉर्ज त्राक्ल', द न्यूयार्क रिव्यू ऑफ बुक्स, 1 अगस्त, 2017 ।

[18] द फ्रेगे-विट्गेन्स्टाइन कॉरेस्पोंडेंस - बोस्टन युनिवर्सिटी: www.bu.edu/philo/files/2011/01/Frege-WittgensteinCorrespondence.pdf; इसी में, जुलियट फ्लॉयड का लेख 'द फ्रेगे-विट्गेन्स्टाइन कॉरेस्पोंडेंस: इंटरप्रेटिव थीम्स' ।

[19] ट्रैवर्सो, एंजो (2016); 'लेफ्टविंग मेलंकोलिया: मार्क्सिज्म, हिस्ट्री एण्ड मेमोरी', कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क (पीडीएफ); 'प्रीफेस': 13 ।

[20] लेनिन, ब्लादिमिर, इलिच (1972); 'मेटेरियलिज़्म एण्ड इम्पीरियो-क्रिटिसिज़्म', फॉरेन लैंग्वेज प्रेस, पेकिंग । 1905-7 की असफल रूसी क्रान्ति के बाद लेनिन उन दिनों जेनेवा में निर्वासित थे । इस किताब के लिए जरूरी संदर्भ-सामग्री चूँकि जेनेवा में उपलब्ध नहीं थी, इसलिए मई 1908 में एक महीने के लिए वे लंदन चले गये और वहाँ ब्रिटिश म्युजियम की लाइब्रेरी में सम्बन्धित सामग्री के अध्ययन में जुटे रहे । किताब की पाण्डुलिपि चोरी-छिपे मास्को के एक गुप्त ठिकाने पर भेजी गई थी । प्रूफ देखने का काम लेनिन की बहन **ए आई एलिजारोवा** ने किया था - वैसे छपने से पहले अन्तिम प्रूफ गुप्त रूप से लेनिन को भी भेजी गई थी । दर्शन की इस किताब में लेनिन ने जारशाही के सेंसर से बचने के लिए सचेत रूप से समकालीन राजनीतिक संदर्भों का जिक्र नहीं किया था । किताब ज़्वेनो पब्लिशिंग हाउस, मॉस्को से मई 1909 में प्रकाशित होकर आई ।

[21] लेनिन, ब्लादिमिर इलिच (1972); ऊपर वर्णित: 144-5 ।

[22] वही: 340-2 ।

[23] वही: 342 ।

[24] जेफ्रीज, स्टुअर्ट (2016); 'ग्रैंड होटल एबीस: द लाइव्स ऑफ द फ्रैंकफुर्ट स्कूल', वर्सो, लंदन (पीडीएफ); पार्ट 1. 'कंडीशन: क्रिटिकल': 38-40 । फ्रैंकफुर्ट स्कूल का कुछ विवरण इसी किताब से । साथ ही, लुकाच, जॉर्ज (1971); 'हिस्ट्री एण्ड क्लास कंशसनेस: स्टडीज इन मार्क्सिस्ट डाइलेक्टिक्स', मर्लिन प्रेस, लंदन; 'द मार्क्सिज्म ऑफ रोजा लक्जमबर्ग': 27-45 । यह किताब मूल रूप में सबसे पहले 1922 में छपी थी ।

[25] वही : 19 ।

[26] रसेल, बर्ट्रेंड (1967); 'हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फ़िलोसॉफ़ी', जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन, लंदन; अध्याय XXXI, 'द फ़िलोसॉफ़ी ऑफ लॉजिकल एनेलाइसिस': 783 ।

[27] एंगेल्स, फ्रेडरिख़ (वर्ष नहीं); 'ड्युहरिंग मत-खण्डन: श्री यूजेन ड्युहरिंग द्वारा विज्ञान में प्रवर्तित क्रान्ति', विदेशी भाषा प्रकाशन गृह, मास्को; '12. परमाणु और गुण': 203 ।

[28] वही : 204 ।

[29] अलेक्जेंडर, अमीर (2014); 'इनफिटिसमल: हाउ ए *डेंजरस* मैथेमेटिकल थ्योरी शेप्ड द मॉडर्न वर्ल्ड', वन वर्ल्ड, लंदन; अध्याय।, 'द चिल्ड्रेन ऑफ इग्नेसियस': 43 ।

[30] 'द रेने देकार्ते कलेक्शन: हिज क्लासिक वर्क्स', वैक्सकीप पब्लिशिंग; 'डिस्कोर्स ऑन द मेथड ऑफ राइटली कंडक्टिंग द रीजन एण्ड सीकिंग ट्रुथ इन द साइंसेज', पार्ट। (किंडल एडीशन) ।

[31] अलेक्जेंडर, अमीर (2014); ऊपर वर्णित; अध्याय 2, 'मैथेमेटिकल ऑर्डर': 68 ।

[32] एंगेल्स, फ्रेडरिख़ (वर्ष नहीं); ऊपर वर्णित; '9. नैतिकता और कानून । शाश्वत सत्य': 147 ।

[33] अलेक्जेंडर, अमीर (2014) ; ऊपर वर्णित ; 'टाइमलाइन' : 307-8 ।

[34] 1870 के आरम्भ में हैनोवर में लाइबनीज़ का घर गिरा दिया गया था और सारा सामान फेंक दिया गया । मार्क्स के मित्र **कुगेलमन** ने उन्हीं सामानों में से बच गये लाइबनीज़ के अध्ययन-कक्ष के दो वाल-पेपर रख लिये थे और मार्क्स के जन्मदिन पर (5 मई को) वही वाल-पेपर उपहार के रूप में उन्हें लंदन भेज दिया । इस उपहार से मार्क्स काफी खुश थे और 10 मई 1870 को एंगेल्स के नाम पत्र में उन्होंने अपनी खुशी का इज़हार करते हुए लिखा, '.... मूर्ख हैनोवरवासी (लाइबनीज़ के) इन सामानों को फेंकने के बजाए लंदन के नीलामी बाजार में नीलाम कर देते तो उन्हें अच्छी आमदनी हो जाती । .. खैर, मैंने वालपेपर को अपने अध्ययन-कक्ष में टांग दिया है । तुम्हें तो पता है, **मैं लाइबनीज़ का कितना बड़ा प्रशंसक हूँ** ।' एंगेल्स के नाम एक अन्य पत्र में एंगेल्स द्वारा कैलकुलस के सम्बन्ध में पूछे गये एक प्रश्न के जवाब में मार्क्स उन्हें कैलकुलस की बुनियादी प्रस्थापनाओं को डायग्राम बनाकर समझाते हैं ।

[35] रसेल, बर्ट्रेंड (1967) ; ऊपर वर्णित; अध्याय XXXI ; 'द फ़िलोसॉफ़ी ऑफ लॉजिकल एनेलाइसिस' : 783 ।

[36] वही ; अध्याय XX ; 'काण्ट' : 680 ।

[37] वही ; ऊपर वर्णित; अध्याय XXXI ; 'द फ़िलोसॉफ़ी ऑफ लॉजिकल एनेलाइसिस' : 786-9 ।

[38] क्लैग, जेम्स सी (2016) ; ऊपर वर्णित ।

[39] ओर्दोनेज़, विंसेंते (वर्ष नहीं) ; 'ब्राम्ज़ म्युजिक इन लुडविग विट्गेन्स्टाइन्स फ़िलोसॉफ़ी', (पीडीएफ) : 10 में उद्धृत ।

[40] 'प्लुटार्क्स लाइव्स' (वर्ष नहीं) ; वाल्टर स्कॉट पब्लिकेशंस, फेलिंग, न्यूकैसल-ऑन-टाइन; 'देमोस्थेनीज' : 283-307 ; 'सिसेरो' : 308-348 ; 'देमोस्थेनीज एण्ड सिसेरो कम्पेयर्ड' : 348-351 ।

[41] बोर्हेस, जोर्ग लुई (2000) ; 'सेलेक्टेड पोएम्स', पेंग्विन बुक्स, लंदन ; 'द सेल्फ एण्ड द अदर', 'प्रोलोग' : 149 ।

[42] ओर्दोनेज, विंसेंते (वर्ष नहीं) ; ऊपर वर्णित : 15 (मैकगिन्नेस से उद्धृत) ।

[43] वही : 7 ।

[44] क्लैग, जेम्स सी (2016); ऊपर वर्णित ।

[45] 'द फ़िलोसॉफ़ी ऑफ कम्प्यूटर साइंस' (20 अगस्त, 2013, पुनर्संशोधन 19 जनवरी, 2017) : https://plato.stanford.edu/entries/computer-science/

डेविड हिल्बर्ट से सम्बन्धित संदर्भ यहाँ देखें :

www.seas.harvard.edu/courses/cs121/handouts/Hilbert.pdf

[46] ह्युमेनिटीज (2015); 4 (www.mpdi.com/journal/humanities), में एम्सटर्डम विश्वविद्यालय (द हेग) में दर्शनशास्त्र विभाग के **दिमित्रिस गैकिस** का लेख 'विट्गेन्स्टाइन, मार्क्स एण्ड मार्क्सिज्म : सम हिस्टोरिकल कनेक्शंस', 4 दिसम्बर, 2015 : 924-937 ।

इस लेख में अमर्त्य सेन का निम्नलिखित लेख उद्‌धृत किया गया है : सेन, अमर्त्य (2003) ; 'स्राफा, विट्गेन्स्टाइन एण्ड ग्राम्शी', जर्नल ऑफ इकोनोमिक लिटरेचर 41 : 1240-55 ।

[47] दिमित्रिस के ऊपर वर्णित लेख में उद्‌धृत ।

[48] वही ।

****